THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182644

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No H 81.08 M67R   Accession No. G.H 2601

Author Mitra Keshav Prasad

Title Rasayan.

This book should be returned on or before the date last marked below.

रसायन

(द्वितीय भाग)

संपादक

केशवप्रसाद मिश्र

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

सरस्वती मन्दिर

वाराणसी

षष्ठ संस्करण] १९५८ [मूल्य २)

नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स

प्रकाशक
सरस्वती मन्दिर
वाराणसी

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी।

वक्तव्य

इस द्वितीय भाग में संगृहीत सबके सब पद्य या पद्याभ्यास गद्य यद्यपि निर्विशेष रूप से पूर्ण सार्थक रसायन के भीतर स्थान पाने के योग्य नहीं कहे जा सकते, पर उनमें से एक भी ऐसा खण्ड नहीं है जो अपनी किसी न किसी विशेषता के कारण काव्य-कोटि में परिगणनीय न हो। रस तो रस ही है, रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास आदि भी आस्वादनीय होने के कारण उपचार से रस ही माने जाते हैं। अतः वैसी रचनायें भी सन्निविष्ट कर ली गई हैं। यही नहीं, अव्यंग्य शब्दचित्र, अर्थचित्र अथवा उभयचित्र तक की उपेक्षा नहीं की गई है। बात यह है कि आधुनिक कविकर्म की विधानपद्धति नानाविधि भारतीय-अभारतीय दृष्टिभेदों से इस प्रकार संकीर्ण और संकुल हो गई है कि कवि अथवा भावक कोई भी सीधा मार्ग पकड़कर नहीं चल सकता। इसे सरस्वती का अवसाद नहीं प्रसाद ही मानना चाहिए। कविता कवि की मानसी सृष्टि है। मन प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न होता है। उसके यथेष्ट मार्ग का अनुसरण करने में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का आग्रह या आदेश करना समीक्षक का अतिचार ही समझा जायगा। समीक्षक इतना ही देख सकता है कि कृति में काव्यत्वाधायक उपादान किस मात्रा में विद्यमान हैं।

देशकाल की वर्तमान विषम परिस्थितियों से अभिभूत आधुनिक कवि कभी प्रत्यक्ष गोचर से उद्विग्न होकर सर्वथा प्रातिभ गोचर की ओर लपकता रहा है तो कभी उधर से निराश लौटकर पुनः अपने धरातल पर खड़ा होकर चारों ओर दृष्टि डालता रहा है। काव्यजीवन की इस चलाचल वृत्ति में यद्यपि कवियों में शाश्वतिक सत्य के अनुसंधान की ओर से अधिकतर पराङ्मुखता ही लक्षित होती रहती है; पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा अभाव रहा है। ऐसी रचना भी हुई है जिसमें शाश्वत सत्य का सुन्दर आभास मिलता है, और पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

संकलनकर्त्ता की पहुँच तो कतिपय परिगणित कलाकारों तक ही जाकर अवरुद्ध हो गई। उसका कारण किसी प्रकार का आलस्य, मोह, पक्षपात, विरक्ति या अतितृप्ति नहीं है। वह तो चाहता था कि उज्ज्वल से उज्ज्वल रत्न लाकर इस मालिका को इस प्रकार गूँथ दे जिसका यह कण्ठहार हो। वे और प्रसाधक दोनों अपनी अपनी बुद्धि से इसके गुणों का मान कर हृदय में धार करें-करायें, पर उसे अनेकानेक द्वारों से निराश ही लौटना पड़ा है। संभव उसके अभाग्य ने किसी गुदड़ी के लाल तक उसे न पहुँचने दिया हो।

प्रत्येक कविकर्म की कुछ कुछ समीक्षा देने का विचार फिर भी यों ह रहा जाता है, इसका खेद है; पर वह ऋण है उसको तो चुकाना ही पड़ेगा चाहे आज चाहे कल।

जिन वर्त्तमान कलाकारों की रचनायें संगृहीत हुई हैं संपादक उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ है।

काशी.
१२-५-१९४४.

संपादक

सूची

१—हरिऔध १
२—मैथिलीशरण १८
३—प्रसाद ५८
४—निराला ८७
५—पन्त १०४
६—महादेवी ११८

रसायन

देवदेव

जो किसी के भी नहीं बाँधे बँधे
प्रेम बंधन से गये वे भी कसे।
तीन लोकों में नहीं जो बस सके
प्यारवाली आँख में वे ही बसे॥

हो कहाँ पर नहीं झलक जाते
पर हमें तो दरस हुआ सपना।
कब हुआ सामना नहीं पर हम
कर सके सामने न मुँह अपना॥

कर अजब आसमान की रंगत
ये सितारे न रंग लाते हैं।
अनगिनत हाथ-पाँव वाले के
नख जगा जोत जगमगाते हैं॥

बात कैसे बता सकें तेरी
हैं मुँहों में लगे हुए ताले।
बावले बन गये न बोल सके
बाल की खाल काढ़ने वाले॥

ठीक लौ जो लगी रहे हरि ओर
तो करेगा न कुछ जगत जंजाल।
जो न होती रहे कपट की काट
क्या रखे और क्या कटाये बाल॥

देखनेवाली अगर आँखें रहें
तो कहाँ पर नाथ दिखलाये नहीं।
बीच ही में घूम है माथा गया
लोग माथे तक पहुँच पाये नहीं ॥

पाँवड़े कैसे न पलकों के पड़े
जोत के सारे सहारे हो तुम्हीं।
आँख में बस आँख में हो घूमते
आँख के तारे हमारे हो तुम्हीं ॥

देखनेवाली न आँखें हों मगर
देखने का है उन्हें चस्का बड़ा।
आप परदा किस लिए हैं कर रहे
हो भले ही आँख पर परदा पड़ा ॥

डाल दे सिर पर न सारी झंझटें
जी हमारा कर न डाँवाडोल दे।
इन दिनों तो है बिपत खुल खेलती
तू भला अब भी पलक तो खोल दे ॥

कुछ बनाये नहीं बनी अब तक
जान पर आ बनी बचा न सके।
हम कहें क्या तपाक की बातें
आपकी राह ताक ताक थके ॥

जब कि प्यारे गड़े तुम्ही जी में
तब भला दूसरा गड़े कैसे।
जब तुम्हीं आँख में अड़े आकर
तब बिचारी पलक पड़े कैसे ॥

हम तुम्हारे लिए रहें फिरते
आँख तुमने न आज तक फेरी।
हम तुम्हें चाहते रहेंगे ही
चाह चाहे तुम्हें न हो मेरी ॥

कौन है जानकार तुम जैसा
है हमारा अज्ञान का बाना।
तुम हमें जानते जनाते हो
नाथ हमने तुम्हें नहीं जाना॥

यशोदा-विलाप

प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है
दुख-जलधि-निमग्ना का सहारा कहाँ है॥
अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥ १॥

पल पल जिसके मैं पंथ को देखती थी
निशि दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिसके है सोहती मंजु माला
वह नव-नलिनी-से नेत्रवाला कहाँ है॥ २॥

मुझ विजित जरा का एक आधार जो है
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है॥ ३॥

प्रतिदिन जिसको मैं अंक में नाथ ले के
विधि-लिखित कुअंकों की क्रिया कीलती थी॥
अतिप्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला
वह किसलय के से अंगवाला कहाँ है॥ ४॥

वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा
करतल गत होता व्योम का चंद्रमा था॥
मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का
वह मधुमय-कारी मानसों का कहाँ है॥ ५॥

रसमय वचनों से नाथ जो गेह मध्य
प्रतिदिवस बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था॥
मम सुकृति-धरा का स्रोत जो था सुधा का
वह नव घन न्यारी श्यामता का कहाँ है॥ ६॥

स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्ल-कारी
मम परम-निराशा-यामिनी का विनाशी ॥
ब्रज-जन विहगों के वृन्द का मोद-दाता
वह दिनकर-शोभी राम-भ्राता कहाँ है ॥ ७ ॥

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी
अनुपम जिसका है शील सौजन्य पाती ॥
पर-दुख लख के है जो समुद्विग्न होता
वह कृति-सरसी का स्वच्छ सोता कहाँ है ॥ ८ ॥

निविड़ तम निराशा का भरा गेह में था
वह जिस विधु मुख की कांति को देख भागा ॥
सुखकर जिससे है, कामिनी जन्म मेरा
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहाँ है ॥ ९ ॥

सहकर कितने ही कष्ट औ संकटों को
बहु यजन कराके पूज के निर्जरों को ॥
यक सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ॥१०॥

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा
कलरव करता था जो खगों सा बनों में ॥
सुध्वनित पिक सा जो वाटिका को बनाता
वह बहुविधि कंठों का विधाता कहाँ है ॥११॥

सुन स्वर जिसका थे मत्त होते मृगादि
तरुगण-हरियाली थी महा दिव्य होती ॥
पुलकित बन जाती थी लसी पुष्प क्यारी
उस कल मुरली का नाद कारी कहाँ है ॥१२॥

जिस प्रियवर को खो ग्राम सूना हुआ है
सदन सदन में हा ! छा गई है उदासी ॥
तम-वलित मही में है न होता उजाला
वह निपट निराली कान्तिवाला कहाँ है ॥१३॥

वन वन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों
शुक भर-भर आँखें गेह को देखता है ॥
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती
वह शुचि-रुचि स्वाती मंजु मोती कहाँ है ॥१४॥

गृह गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ हैं
पथ पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो ॥
जिस कुँवर बिना मैं रो रही हूँ अधीरा
वह छवि-खनि-शोभी स्वच्छ हीरा कहाँ है ॥१५॥

मम उर कँपता था कंस-आतंक ही से
पल पल डरती थी क्या न जाने करेगा ॥
पर परमपिता ने की बड़ी ही कृपा है
वह निज-कृत-पापों से पिसा आपही जो ॥१६॥

अतुलित बलवाले मल्ल कूटादि जो थे
वह गज गिरि ऐसा लोक-आतंककारी ॥
अनुदिन उपजाते भीति थोड़ी नहीं थे
पर यमपुर-वासी आज वे हो चुके हैं ॥१७॥

भयप्रद जितनी थीं आपदायें अनेकों
यह यक करके वे हो गईं दूर यों ही ॥
प्रियतम ! अनसोची ध्यान में भी न आई
यह अभिनव कैसी आपदा आ पड़ी है ॥१८॥

मृदु किसलय ऐसा पंकजों के दलों सा
वह नवल सलोने गात का तात मेरा ॥
इन सब पवि ऐसे देह के दानवों का
कब कर सकता था नाश कल्पान्त में भी ॥१९॥

पर हृदय हमारा ही हमें है बताता
सब शुभ फल पाती हूँ किसी पुण्य ही का ॥
वह परम अनूठा पुण्य ही पापनाशी
इस कुसमय में है क्यों नहीं काम आता ॥२०॥

प्रिय सुअन हमारा क्यों नहीं गेह आया
वह नगर-छटायें देख के क्या लुभाया ॥
वह कुटिल जनों के जाल में जा पड़ा है
प्रियतम ! उसको या राज्य का भोग भाया ॥२१॥

मधुर वचन से और भक्ति भावादिकों से
अनुनय विनयों से प्यार की युक्तियों से ॥
सब मधुपुर-वासी बुद्धिशाली जनों ने
अतिशय अपनाया क्या व्रजाभूषणों को ॥२२॥

बहु विभव वहाँ का देख के श्याम भूला
वह बिलम गया या वृन्द में बालकों के ॥
फँस कर जिसमें हा ! लाल छूटा न मेरा
सुफलक-सुत ने क्या जाल कोई बिछाया ॥२३॥

परम शिथिल हो के पंथ की क्लान्तियों से
वह ठहर गया है क्या किसी वाटिका में ॥
प्रियतम ! तुम से या दूसरों से जुदा हो
वह भटक रहा है क्या कहीं मार्ग ही में ॥२४॥

विपुल कलित कुंजें भानुजा-कूलवाली
अतुलित जिनमें थी प्रीति मेरे प्रियों की ॥
पुलकित चित से वे क्या उन्हीं में गये हैं
कतिपय दिवसों की श्रान्ति उन्मोचने को ॥२५॥

विविध सुरभिवाली मण्डली बालकों की
मम युगल सुतों ने क्या कहीं देख पाई ॥
निज सुहृद जनों में वत्स में धेनुओं में
बहु बिलम गये वे क्या इसी से न आये ॥२६॥

निकट अति अनूठे नीप फूले फले के
कलकल बहती जो धार है भानुजा की ॥
अतिप्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहाँ का
वह समुद उसे ही देखने क्या गया है ॥२७॥

सित सरसिज ऐसे गात के श्याम-भ्राता
यदुकुल-जन हैं औ वंश के हैं उजाले ॥
यदि वह कुलवालों के कुटुम्बी बने तो
सुत सदन अकेले ही चला क्यों न आया ॥२८॥

यदि वह अति स्नेही शील-सौजन्य-शाली
तज कर निज भ्राता को नहीं गेह आया ॥
व्रज अवनि बता दो नाथ तो क्यों बसेगी
यदि बदन विलोकूंगी न मैं क्यों बचूँगी ॥२६॥

प्रियतम ! अब मेरा कंठ में प्राण आया
सच सच बतला दो प्राण-प्यारा कहाँ है ॥
यदि मिल न सकेगा जीवनाधार मेरा
तब फिर निज पापी प्राण मैं क्यों रखूँगी ॥३०॥

विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये
प्रियतम ! बतला दो लाल मेरा कहाँ है ॥
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो ॥३१॥

उस वर धन को मैं माँगती चाहती हूँ
उपचित जिससे है वंश की बेलि होती ॥
सकल जगत प्राणी मात्र का बीज जो है
भव-विभव जिसे खो है वृथा ज्ञान होता ॥३२॥

इन अरुण प्रभा के रंग के पाहनों की
प्रियतम ! घर मेरे कौन सी न्यूनता है ॥
प्रतिपल उर में है लालसा वर्द्धमाना
उस परम निराले लाल के लाभ ही की ॥३३॥

युग दृग जिससे हैं स्वर्ग सी ज्योति पाते
उर तिमिर भगाता जो प्रभा-पुञ्ज से है ॥
कल द्युति जिसकी है चित्त-उत्ताप खोती
वह अनुपम हीरा नाथ ! मैं चाहती हूँ ॥३४॥

कटि-पट लख पीले रत्न दूँगी लुटा मैं
तन पर सब नीले रत्न को वार दूँगी ॥
सुत मुख-छबि न्यारी आज जो देख पाऊँ
बहु अपर अनूठे रत्न भी बाँट दूँगी ॥३५॥

धन विभव सहस्रों रत्न सन्तान देखे
रज कण सम है औ तुच्छ हैं वे तृणों से ॥
पति इन सबको क्यों पुत्र को त्याग लाये ।
मणि-गण तज लावे गेह ज्यों काँच कोई ॥३६॥

परम सुयशवाले कोशलाधीश ही हैं
प्रिय सुत वन जाते ही नहीं जी सके जो ॥
यह हृदय हमारा वज्र से ही बना है
वह तुरत नहीं जो सैकड़ों खण्ड होता ॥३७॥

निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है
तड़प तड़प के तो प्राण है त्याग देता ॥
मम सदृश मही में कौन पापीयसी है
हृदय-मणि गवाँ के नाथ जो जीविता हूँ ॥३८॥

लघुतर सफरी भी भाग्यवाली बड़ी है
अलग सलिल से हो प्राण जो त्यागती है ॥
अहह अवनि में हूँ मैं महा भाग्यहीन
अब तक बिछुड़े जो लाल के जी सकी हूँ ॥३९॥

परम पतित मेरे पातकी प्राण ये हैं
यदि तुरत नहीं हैं गात को त्याग देते ॥
अहह दिन न जाने कौन-सा देखने को
दुखमय तन में ये निर्ममों-से रुके हैं ॥४०॥

विधिवश इनमें हा ! शक्ति बाकी नहीं है
तन तज सकने की हो गये क्षीण ऐसे ॥
वह इस अवनी में भाग्यवाली बड़ी है
अवसर पर सोये मृत्यु के अंक में जो ॥४१॥

बहु कलप चुकी हूँ दग्ध भी हो चुकी हूँ
जग कर कितनी ही रात में रो चुकी हूँ ॥
अब न हृदय में है रक्त का लेश बाकी
तन बल सुख आशा मैं सभी खो चुकी हूँ ॥४२॥

विधु मुख अवलोके मुग्ध होगा न कोई
न सुखित व्रजवासी कान्ति को देख होंगे ॥
यह अवगत होता है सुनी बात द्वारा
अब वह न सकेगी शान्ति-पीयूष-धारा ॥४३॥

सब दिन अति सूना ग्राम सारा लगेगा
निशि दिवस बड़ी ही खिन्नता से कटेंगे ॥
समधिक व्रज में जो छा गई है उदासी
अब वह न टलेगी औ सदा ही खलेगी ॥४४॥

बहुत सह चुकी हूँ और कैसे सहूँगी
पवि-सदृश कलेजा मैं कहाँ पा सकूँगी ॥
इस कृशित हमारे गात को प्राण त्यागो
बन विवश नहीं तो नित्य रो रो मरूँगी ॥४५॥

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे
हा ! प्राणों के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे ॥
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप-लावण्यवाले
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे ॥४६॥

कैसे होके अलग तुमसे आज भी मैं बची हूँ
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ ॥
हाँ जीऊँगी न अब पर है वेदना एक होती
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा ॥४७॥

———

उमङ्ग-भरे युवक

हैं भूतल परचालक प्रतिपालक ए।
तोयधि-तुंग तरंग युवक उमंग-भरे ॥ १ ॥

हैं भव-जन भय-भंजन मन रंजन ए।
बन्धन-मोचन-हेतु अवनि में अवतरे॥ २॥
हैं अनुपम-यश-अंकित अकलंकित ए।
लोक अलौकिक लाल मराल-विरद-वरे॥ ३॥

हैं दानव दल-दण्डन खल-खण्डन ए।
अरि कुल-कंठ-कुठार अकुंठित व्रत धरे॥ ४॥
हैं नर-पुंगव नागर सुख-सागर ए।
मनुज-वंश अवतंस सरस रुचि सिर धरे॥ ५॥

हैं संतत-संजीवन जग-जीवन ए।
पीड़ित जन परिताप-तप्त पथ पौसरे॥ ६॥

हैं समाज-सुख साधक दुख-बाधक ए।
देश-प्रेम प्रासाद प्रभावित फरहरे॥ ७॥

हैं नवयुग-अधिनायक प्रिय पायक ए।
वसुधा-विजयी वीर विजय-प्रद पैंतरे॥ ८॥

हैं सुविचार-प्रचारक परिचारक ए।
सब सुधार-आधार धरा-पादप हरे॥ ९॥
हैं पविता-परिचायक शित शायक ए।
सब पदार्थ-सर्वस्व स्वार्थ-परता परे॥१०॥

सदैव होवें समयानुगामिनी
प्रसादिनी 'मानवतावलम्बिनी॥
गरीयसी गौरविता महीयसी
यवीयसी हों युवक-प्रवृत्तियाँ॥११॥

प्रफुल्ल हों पीवर हों प्रवीर हों
प्रवीण हों पावन हों प्रबुद्ध हों॥
विनीत हों वत्सलता-विभूति हों
वसुन्धरा वैभव बाल-वृन्द हों॥१२॥

भूलोक-भूति भव-सिद्धिमयी मनोज्ञा
सारी धरा विजयिनी कल-कीर्ति कान्ता॥
संपत्तिदा जन-विपत्ति-विनाश-मूर्ति
होवे पुनीत प्रतिपत्ति युवा जनों की॥१३॥

धीरा प्रशान्त अतिकान्त नितान्त दिव्या
हिंसा-विहीन सरसा भव-वांछनीया ॥
संसार - शान्ति - अवनी नवनी समाना
हो पूत - भाव - जननी जनताभिलाषा ॥१४॥

हो उक्ति मंजु अनुरक्ति प्रवृत्ति पूत
आसक्ति उच्च भवभक्ति विरक्ति-हीन ॥
बाधामयी - विषमता - क्षमता - विनाशी
हो सिद्ध - भूत समता ममता युवा की ॥१५॥

भूले न लोक - हित - मंत्र मतान्ध हो के
पीके प्रमाद - मदिरा न बने प्रमादी ॥
पा के महान पद मानवता न खोवे
होवे न मत्त बहु मान मिले मनस्वी ॥१६॥

दे दे विभा विहित नीति - विभावरी को
पाले कुमोदक - समान प्रजाजनों को ॥
सींचे सुधा बरस के अरसा रसा को
सच्चा सुधाधर बने वसुधाधिकारी ॥१७॥

चौपदे

(१)

आम बौरे बही बयार बसी
सज लतायें हरी भरी डोलीं ।
बोलबाला बसन्त का होते
खिल उठीं बेलि कोयलें बोलीं ॥

(२)

भौंवरें बार बार भर भौंरे
फूल की देखकर फबन भूले ।
कोपलें देख कोयलें कूकीं
दिल-कमल खिल गया कमल फूले ॥

(३)

हैं लुभाती दिल भला किसका नहीं
लहलहाती बेलि फूलों की महक।
गूँज भौरों की तितलियों की अदा
कोयलों की कूज चिड़ियों की चहक॥

(४)

हैं फबे आज बेल बूटे भी
झाड़ियों पर लसी लुनाई है।
दूब पर है अजब छटा छाई
फूल ला घास रंग लाई है॥

(५)

लस रही है पलास पर लाली
या घिरी लालरी बबूलों से।
हैं लुभाते किसे नहीं सेमल
लाल हो लाल लाल फूलों से॥

(६)

पा गये पर बहार सा मौसिम
क्यों न अपनी बहार दिखला लें।
लहलही बेलि चहचहे खग के
डहडहे पेड़ डहडही डालें॥

(७)

आज काँटे बखेर कर जी में
फूल भी हो गया कटीला है।
चिटकती देखकर गुलाब - कली
चोट खा चित हुआ चुटीला है॥

(८)

फूल है घूम घूम चूम रहो
है कली को खिला खिला देती।
है महक से दिशा महकती सी
है मलय-पौन मोह दिल लेती॥

(९)

गूँजकर झुककर झिझककर झूमकर
भौंर करके भौंर हैं रस ले रहे।
फूल का खिलना विहँसना विलसना
दिल लुभाना देख हैं दिल दे रहे॥

(१०)

गूँजते गूँजते उमंग में आ
हैं बहुत चौंक चौंक कर अड़ते।
चाव से चूम चूम कलियों को
मनचले भौंर हैं मचल पड़ते॥

(११)

टूटना जब कि चाहिए था जाल
तब गया और भी जकड़ जंजाल।
बढ़ गई और भी सुखों की भूख
जब की खिचड़ी हुए हमारे बाल॥

(१२)

रंगरलियाँ मना जनम खोया
रंग लाती रही समझ मोटी।
तब खुली आँख और सुध आई
जब कि ली काल ने पकड़ चोटी॥

(१३)

फूल गेंदे गुलाब बेले के
एक ही सूत में गये गाँथे।
आपकी सूझ को कहें क्या हम
आपकी रीझ-बूझ सिर माथे॥

(१४)

हैं चिमट कर काढ़ लेती चींटियाँ
धूल में मिलजुल गई चीनी छिंटी।
है भला किस काम का वह, जो कहे
कब किसी से लीक माथे की मिटी॥

(१५)

जब कि दे सकते नहीं जी में जगह
तब कहीं क्या जी लगाना चाहिए॥
सोच लो आँखें चुराकर और की
क्या तुम्हें आँखें चुराना चाहिए॥

(१६)

काँपती मौत भी रही जिनसे,
जो रहे काल मारतों के भी॥
लोग तब डींग मारते क्या हैं
जब पलक मारते मरे वे भी॥

(१७)

तो कहें कैसे कि पकते केस से
सीख हम वैराग की कुछ पा सके।
जो पके फल को टपकता देखकर
आँख से आँसू नहीं टपका सके॥

(१८)

साँस उसकी किस लिए फूले भला
दूसरों को वह फले या मत फले।
नाक तो है साँस लेने की जगह
साँस दाईं या कि बाईं ही चले॥

(१९)

बेतरह मुँह की अगर खाते नहीं
तो चबाते क्यों न लोहे के चने।
सामने आकर करें मुँह सामने
मुँह दिखायें मुँह दिखाते जो बने॥

(२०)

कर सकें हम बराबरी कैसे
हैं हमें रंगतें मिलीं फीकी।
हम कसर हैं निकालते जी से
वे कसर हैं निकालते जी की॥

(२१)

बे कलेजे के बनें तब क्यों न हम
बाल बिखरे देखकर जो जी टँगे।
या किसी की लट लटकती देखकर
लोटने जो साँप छाती पर लगे॥

(२२)

भर सके हो नहीं भरे पर भी
कब नहीं हर तरह भरे जाते।
पट सके हो न पाटने पर भी
पेट तुम से निपट नहीं पाते॥

(२३)

फूल से हम जिसे न मार सके
है वही आज भोंकता भाला।
आज है खा रहा कलेजा वह
है कलेजा खिला जिसे पाला॥

(२४)

बात मुँहदेखी कही जाती नहीं
किस तरह कर चापलूसो चुप रहे।
दिल किसी का कुढ़ रहा है तो कुढ़े
दिल यही है सोचता दिल की कहें॥

(२५)

चाँद ऐसा खिल अगर सकता नहीं
क्यों न तो वह फूल जैसा ही खिले।
क्या छुटाई में भलाई है नहीं
दिल करे छोटा न छोटा दिल मिले॥

(२६)

जो बहुत बनते हैं उनके पास से
चाह होती है कि कब कैसे टलें।
जो मिलें जी खोलकर उनके यहाँ
चाहता है जी कि सिर के बल चलें॥

(२७)

सूखती चाह-बेलि हरिआई
दूध की मक्खियाँ बनी माखें।
रस बहा चाँदनी निकल आई
खिल गये कौल हँस पड़ी आँखें॥

(२८)

बात लगती लुभावनी कह सुन
बन दुखी हो निहाल दुख सुख से।
दिल हिले, आँख से गिरे मोती
दिल खिले, फूल झड़ पड़े मुख से॥

(२९)

लालसा है रस बरसती ही रहे
पर तुम्हारी आँख रिस से लाल है।
यह चमेली है खिलाना आग में
यह हथेली पर जमाना बाल है॥

(३०)

थिर नहीं होतीं थिरकती हैं बहुत
हैं थिरकने में गतों को जाँचती।
काठ का पुतला ललकतों को बना
आँख तेरी पुतलियाँ हैं नाचती॥

(३१)

जान जब तक सका नहीं तब तक
था बना जीव बैल तेली का।
जब सका जान तब जगत सारा
हो गया आँवला हथेली का॥

(३२)

बादलों में हैं अनूठी रंगतें
इन्द्रधनु में हैं निराली धारियाँ।
है नगीना कौन सा तारा नहीं
हैं कहाँ मन की न मीनाकारियाँ॥

(३३)

आँख पुर नेह से रही जिसकी
अब नहीं नेह है उसी तिल में ।
खोलता गाँठ जो रहा दिल की
पड़ गई गाँठ अब उसी दिल में ॥

———

राम की वनयात्रा

वनदेवीगण, आज कौन सा पर्व है,
जिस पर इतना हर्ष और यह गर्व है!
जाना, जाना, आज राम वन आ रहे;
इसी लिये सुख-साज सजाये जा रहे।

तपस्वियों के योग्य वस्तुओं से सजा,
फहराये निज भानु-मूर्त्तिवाली ध्वजा।
मुख्य राजरथ देख समागत सामने,
गुरु को पुनः प्रणाम किया श्रीराम ने।

प्रभु-मस्तक से गये जहाँ गुरु-पद छुए,
चोटी तक वे हृष्टरोम गद्गद हुए;
बोल उठे—"हम आज सुगौरव युत हुए,
सुत, तुम वल्कल पहन, शिष्य से सुत हुए"।

प्रभु बोले-'बस, यही राम को इष्ट है,
क्योंकि पिता के लिए प्रतीत अरिष्ट है।
त्रिकालज्ञ हैं आप, आपकी बात से,
हुए भविष्यचिन्ह मुझे भी ज्ञात से।

जो हो, व्याकुल आज प्रजा-परिवार है,
उन सबका अब सभी आप पर भार है।
माँ मुझको फिर देख सकें, जैसे सही,
पिता पुत्र की प्रथम याचना है यही।"

भाव देखा उन एक महा व्रतनिष्ठ के,
भर आये युग नेत्र वरिष्ठ वसिष्ठ के।

कहा उन्होंने—"वत्स, चाहता हूँ अभी
किन्तु नहीं, कल्याण इसी में है सभी।
देवकार्य हो और उदित आदर्श हो;
उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ-स्पर्श हो।

मुनि-रक्षक-सम करो विपिन में वास तुम,
मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम।
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम,
करो आर्य-सम वन्यचरों को सभ्य तुम।"

"जो आज्ञा" कह रामचन्द्र आगे बढ़े,
उदयाचल पर सूर्य-तुल्य रथ पर चढ़े।
रुदित जनों को छोड़ बैठे उसमें भले,
सीता-लक्ष्मण-सहित राम वन को चले।

प्रजा वर्ग के नेत्र-नीर से पथ सिंचा,
रुकता रुकता महा भीड़ में रथ खिंचा।
सूर्योद्भासित कनक-कलश पर केतु था,
वह उत्तर को फहर रहा कि हेतु था?

कहता-सा था दिखा दिखाकर कर-कला,
यह जंगम साकेत देव मन्दिर चला!
सुन केकयी-कर्म, जिसे लज्जा हुई,
पाकर मानों ताप गलित मज्जा हुई।

वैदेही को देख वधू-गण बच गया,
कोलाहल युग-भाव-पूर्ण तब मच गया।
उभय ओर थीं खड़ी नगर-नर-नारियाँ,
बरसाती थीं साश्रु सुमन सुकुमारियाँ।

करके जय-जयकार, राम का, धर्म का,
करती थीं अपवाद कैकयी-कर्म का।
'जहाँ हमारे राम वहीं हम जायेंगे
वन में ही नव-नगर-निवास बनायेंगे।

ईंटों पर अब करें भरत शासन यहाँ"
जन-समूह ने किया महा कलकल वहाँ।
"हर कर प्रभु का राज्य कठोरा केकयी,
प्रजा-प्रीति भी हरण करे अब यह नई।"

भाभी को यह भाव जताने के लिए,
लक्ष्मण ने निज नेत्र उधर प्रेरित किये।
वैदेही में पुलक-भाव था भर रहा,
प्रियगुणानुभव रोम रोम था कह रहा।

केकयी का स्वार्थ राम का त्याग था,
परम खेद था और चरम अनुराग था।
राम-भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।

वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही।
सत्य-धर्म का श्रेष्ठ भाव भरते हुए,
जन-समूह को स्वयं शान्त करते हुए।

विपिनातुर वे किसी भाँति आगे बढ़े,
पहुँचे रथ से प्रथम, मनोरथ पर चढ़े।
रखकर उनके वचन, लौटते लोग थे,
पाते तत्क्षण किन्तु विशेष वियोग थे।

जाते थे फिर वहीं टोल के टोल यों,—
आते जाते हुए जलधि-कल्लोल ज्यों।
सम्बोधन कर पौर जनों को प्रीति से,
बोले हँसकर राम यथोचित रीति से—

"रोकर ही क्या विदा करोगे सब हमें,
आना होगा नहीं यहाँ क्या अब हमें ?
लौटो तुम सब, यथासमय हम आयेंगे,
भाव तुम्हारे साथ हमारे जायेंगे।

पहुँचाते हैं दूर उसी को शोक में—
जिससे मिलना हो न सके फिर लोक में।"
बोल उठे जन—"भद्र, न ऐसा तुम कहो,
देते हैं हम तुम्हें बिदा ही कब अहो।

राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ !"
यह कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ।

अश्व अड़े-से खड़े उठाये पैर थे,
क्योंकि समझते प्रेम और वे बैर थे।
ऊँचा कर कुछ वक्ष कन्धरा-संग में,
शंखालोड़न यथा उदग्र तरंग में—

करता है गम्भीर अम्बुनिधि नाद ज्यों,
बोले श्रीमद्रामचन्द्र सविषाद यों—
"उठो-प्रजा-जन, उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम।

तुमसे प्यारा मुझे कौन ? कातर न हो,
मैं अपना भी त्याग करूँ तुम पर कहो ?
सोचो तुम सम्बन्ध हमारा नित्य का,
जब से भव में उदय आदि आदित्य का।

प्रजा नहीं, तुम प्रकृति हमारी बन गये,
दोनों के सुख-दुःख एक में सन गये।
मैं स्वधर्म से विमुख नहीं हूँगा कभी
इसीलिये तुम मुझे चाहते हो सभी।

पर मेरा यह विरह विशेष विलोक कर,
करो न अनुचित कर्म धर्म-पथ रोक कर।
होते मेरे ठौर तुम्हीं हे आग्रही,
तो क्या तुम भी आज नहीं करते यही ?"

पालन सहज, सुयोग कठिन है धर्म का,
हुआ अचानक लाभ मुझे सत्कर्म का।
मैं बन जाता नहीं रूठकर गेह से,
अथवा भय, दौर्बल्य तथा निस्नेह से।

तुम्हीं कहो, क्या तात-वचन झूठे पड़ें,
असद्वस्तु के लिये परस्पर हम लड़ें।
मान लो कि यह राज्य अभी मैं छीन लूँ,
काँटों में से सहज कुसुम सा बीन लूँ।

पर जो निज नृप और पिता का भी न हो,
हो सकता है कभी प्रजा का वह कहो ?
ऐसे जन को पिता राज्य देते कहीं,—
जिसको उसके योग्य मानता मैं नहीं।

तो अधिकारी नहीं, प्रजा भाव से,
सहमत होता स्वयं न उस प्रस्ताव से।
किन्तु भरत के भाव मुझे सब ज्ञात हैं,
हम में वे जड़भरत-तुल्य विख्यात हैं।

भूलोगे तुम मुझे, उन्हें पाकर, सुनो,
मुझे चुना तो जिसे कहूँ अब मैं, चुनो।
जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रति,
प्रिय उससे भी अधिक न निकलें वे व्रती—

तो तुम मुझको दूर न पावोगे कभी,
देता हूँ मैं वचन, मार्ग दे दो अभी।
महाराज स्वर्गीय सगर ने राज्य कर,
तजा तुम्हारे लिये पुत्र भी त्याज्य कर।

भरत तुम्हारे योग्य न हों त्राता कहीं,
तो समझेगा राम उन्हें भ्राता नहीं।
तुम हो ऐसे प्रजावृन्द, भूलो न हे !
जिनके राजा देव-कार्य-साधक रहे।

गये छोड़ सुख - धाम दैत्य - संग्राम में,
धैर्य्य धरो तुम, वही वीर्य है राम में।
बंधु! विदा दो उसी भाव से तुम हमें,
वन में काँटे बनें कीर्ण कुंकुम हमें।

करूँ पाप - संहार, पुण्य - विस्तार मैं,
भरूँ भद्रता हरूँ विघ्न भय - भार मैं।
या जाने दो आर्य भागीरथ - रीति से,
करूँ शुल्क-ऋण मुक्त पिता को प्रीति से।

सौ विघ्नों के बीच व्रतोद्यापन करूँ,
गंगा-सम कुछ नव्य निधि - स्थापन करूँ।
उठो विघ्न मत बनो धर्म के मार्ग में,
चलो स्वयं कल्याण कर्म के मार्ग में।

दो मुझको उत्साह, बढ़ूँ, विचरूँ तरूँ,
पद-पद पर मैं चरण चिन्ह-अंकित करूँ।"
क्षिप्त खिलौने देख हठीले बाल के,
रख दे माँ ज्यों उन्हें सँभाल - सँभाल के।

विभु वाणी से वही, पड़े थे जो अड़े,
मन्त्रमुग्ध से हुए अलग उठकर खड़े।
झुक देखें जो किन्तु उठाकर सिर उन्हें,
पा सकते थे कहाँ पौर-जन फिर उन्हें।

झोंके-सा झट, स्वच्छ मार्ग से रथ उड़ा,
बढ़ मानो कुछ दूर शून्य पथ भी मुड़ा!
चले यथा रण-चक्र अचल भावित हुए,
युग पार्श्वों के अचल दृश्य धावित हुए।

सीमा पूरी हुई जहाँ साकेत की,
पुर, प्रान्तर, उद्यान, सरित, सर खेत की।
रुके सधे हय, हींस उठे रज चूम कर,
उतर पुरी की ओर फिरे प्रभु घूम कर।

जन्म भूमि का भा न अब भीतर रुका,
आर्द्र भाव से कहा उन्होंने सिर झुका—
"जन्म - भूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।

तेरे कीर्ति-स्तम्भ, सौध, मन्दिर यथा—
रहें हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा।
जाते हैं हम, किन्तु समय पर आयेंगे,
आकर्षक तब तुझे और भी पायेंगे।

उड़े पक्षिकुल दूर दूर आकाश में,
तदपि चंग सा बँधा कुंज-गृह-पाश में।
हम में तेरे व्याप्त विमल जो तत्त्व हैं—
दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ, सत्त्व हैं।

उन सबका उपयोग हमारे हाथ है;—
सूक्ष्म रूप में सभी कहीं तू साथ है।
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास में,
मानस में जल और अनज उल्लास में।

अनासक्ति में सतत नभस्थिति हो रही,
अविचलता में बसी आप तू है मही।
गिर गिर, उठ उठ, खेल-कूद, हँस-बोलकर,
तेरे ही उत्संग - अजिर में डोलकर—

इस पथ में है सहज हुआ चलना हमें,
छल न सकी वह लोभ मोह छलना हमें।
हम सौरों की प्राचि, पुराधिष्ठात्रि तू,
मनुष्यत्व मनुजात धर्म की रात्रि तू।

तेरे जाये सदा याद आते रहें,
न नव गौरव पुण्यपर्व पाते रहें।
तू भावों की चारु चित्रशाला बनी,
चारित्र्यों की गीत - नाट्यमाला बनी।

तू है पाठावली आर्य-कुल कर्म की,
पत्र पत्र पर छाप लगी ध्रुव धर्म की।
चलना, फिरना और विचरना हो कहीं,
किन्तु हमारा प्रेम-पालना है यहीं।

हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नर-लोक में,
शिशु ही हूँ तुझ मातृ भूमि के ओक में।
यहीं हमारे नाभि-कंज की नाल है,
विधि-विधान की सृष्टि यहीं सुविशाल है।

हम अपने तुझ दुग्ध धाम के विष्णु हैं,
हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं।
तेरा पानी शस्त्र हमारे हैं धरे—
जिसमें अरि आकण्ठमग्न होकर तरे।

तब भी तेरा शान्तिभरा सद्भाव है,
सब क्षेत्रों में हरा हृदय का हाव है।
मेरा प्रिय हिण्डोल निकुंजागार तू,
जीवन-सागर भाव-रत्न भाण्डार तू।

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ—सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ-बरसूँ कहीं।
शुचि-रुचि शिल्पादर्श, शरद्घन-पुंज तू,
कलाकलित, अतिललित कल्पना कुंज तू।

स्वर्गाधिक साकेत, राम का धाम तू,
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू।
राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कहीं,
आऊँ अथवा लौट यहाँ आऊँ नहीं।

रामचन्द्र भवभूमि अयोध्या का सदा,
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा।"
आया झोंका एक वायु का सामने,
पाया सिर पर सुमन समर्पित राम ने।

पृथ्वी का गुण सरस गन्ध मन भा गया,
खगकुल का कल विकल करुण रव छा गया।
क्षण भर तीनों रहे, मूर्ति जैसे गढ़े,
लेकर फिर निश्वास दीर्घ रथ पर चढ़े।

बैठ चले चुपचाप सभी निस्पन्द-से,
बढ़े अश्व भी निरानन्द गति मन्द से।
पहुँचे तमसा-तीर साँझ को संयमी,
वहीं बिताई गई प्रथम पथ की तमी।

स्वजन-सोच-संकोच तनिक बाधक हुआ,
किन्तु भरत-विश्वास शयन-साधक हुआ।
सजग रहे सौमित्रि, बने प्रहरी वही;
निद्रा भी उर्मिला-सदृश घर ही रही!

प्रभु-चर्चा में मग्न सुमन्त्र समेत थे,
बीत गई कब रात, सचेताचेत थे।
पर दिन पथ में निरख स्वराज्य-समृद्धियाँ,
प्रजावर्ग की धर्म - धान्य - धन - वृद्धियाँ।

गोरसधारा - सदृश गोमती पार कर,
पहुँचे गंगा-तीर धीर धृति धार कर।
यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,
स्वर्ग कण्ठ से छूट धरा पर गिर पड़ी!

सह न सकी भव-ताप अचानक गल गई,
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी।
प्रभु आये हैं समाचार सुनकर नया,
भेंट लिये गुहराज सपरिकर आगया।

देख सखा को दिया समादर राम ने,
उठकर, बढ़कर, लिया प्रेम से सामने।
"रहिए रहिए उचित नहीं उत्थान यह,
देते हैं श्रीमान् किसे बहु मान यह!

मैं अनुगत हूँ; भूल पड़े कहिए कहाँ ?
अपना मृगयावास समझ रहिए यहाँ।
कुशलमूल इस मधुर हास पर भूल सब,
वारूँ मैं निज नील विपिन के फूल सब।

सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब, किसे,
क्यों न कहूँ मैं अहोभाग्य अपना इसे ?
पाकर यह आनन्द-संमिलन-लीनता,
भूल रही है आज मुझे निज हीनता।

मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें।
निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें।
त्रुटियों पर पद-धूलि डालिए, आइए,
घर न देखकर, मुझे निहार निभाइए।

न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्ति है,
चाहे मुझमें शक्ति न हो, पर भक्ति है।
अथवा मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड़ सकते हैं चारु चरण ये, पर कहाँ,

आ सकती हैं, बार-बार माँ जानकी ?
कुलदेवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे,
मिथिलापुर के राजभोग हैं याद वे।

पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही !
एक ग्रास में तृप्त न कर दूँ तो सही।
रूखा-सूखा खान पान भी इष्ट है,
भाता किसको सदा मिष्ट ही मिष्ट है !

तुम सदैव सौभाग्यवती, जीती रहो;
उभय कुलों की प्रीति-सुधा पीती रहो।"
सिर गुहने हँस उन्हें हँसा कर नत किया,
प्रभु ने तत्क्षण उसे अंक में भर लिया।

चौंका वह इस बार, देखकर राम को—
शैवलपरिवृत यथा सरोरुह श्याम को !
"ऐं, ये वल्कल ! दृष्टि कहाँ मेरी रही ?
कौतुक, अब तक देख न पाई वह यही !

कहिए, वे किस लिये आज पहने गये ?
कहाँ राजपरिधान और गहने गये ?
क्या मुनि बन कर हरिण भुलाये जायँगे,
पर वे चंचल, सहज समीप न आयँगे।

किसी वेष में रहे रूप ही धन्य यह,
जय आभरणावरण-मुक्त लावण्य यह।"
"वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे !
करो हमारे लिये न अब कुछ श्रम सखे।

वन का व्रत हम आज तोड़ सकते कहीं,
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं।
तपस्वियों के विघ्न दूर कर प्रेम से,
कुछ दिन हम वनवास करेंगे क्षेम से।

देखेंगे पुर-कार्य भरत पुण्यस्पृही,
होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही।"
"ऐसा है तो साथ चलेगा दास यह,
होगा सचमुच बड़ा विनोदी, वास वह।

वन में वे-वे चमत्कार हैं सृष्टि के,
पलक खुले ही रहें देखकर दृष्टि के !"
"सुविधा करके स्वयं श्रमण-विश्राम की,
सब कृतज्ञता तुम्हीं न ले लो राम की।

औरों को भी सखे, भाग दो भाव से;
कर दो केवल पार हमें कल नाव से।"
ध्रुवतारक था व्योम विलोक समाज को,
प्रभु ने गौरव-मान दिया गुहराज को।

प्रकृत वृत्त जब सुना परन्तु विषाद का,
मुरझा गया मन सुमन-समान निषाद का।
देवमूर्ति वे राजमन्दिरों के पले,
कुश-शय्या पर आज पड़े थे तरु-तले।

हाय! फूलते हुए भाग्य कैसे फले,
उस भावुक के अश्रु उमड़ कर बह चले।
"घुरक रही है साँय साँय कर रात भी,
मानों लय में लीन तरंगाघात भी।

तब भी लक्ष्मण घूम रहे हैं जागकर,
निद्रा का निज तुच्छ भाग तक त्याग कर।
यह किसका अभिशाप न जाने हे हरे,
चलती है दुर्नीति राज्य से ही अरे!
खोकर ऐसे लाल, लिया क्या केकयी?
क्या करना था तुझे, किया क्या केकयी?
इस भव पर है असित वितान तना सदा,
जिसके खम्भे दुःख, शोक, भय, आपदा।

इस अचिन्त्यगति गगन तले जब तक पड़े,
हम हैं कितने विवश सभी छोटे-बड़े।
जो प्रभु निज साकेत छोड़, वन को चला,
उसके सम्मुख शृंगवेरपुर क्या भला?

पर उसको दूँ और कौन उपहार मैं,
हूँगा कल कृतकृत्य आपको वार मैं।"
बद्धमुष्टि रह गया वीर, ज्यों भ्रांत हो,
बोले तब सौमित्रि—"बन्धु तुम शान्त हो।

तुमको जिनके लिये दुःख या रोष है,
स्वयं उन्हें निज हेतु सौख्य-सन्तोष है।
शृंगवेरपुर-राज्य करो तुम नीति से,
आर्य तृप्त हैं मात्र तुम्हारी प्रीति से।

मिला धर्म का आज उन्हें वह धन नया,
जिस पर कोसलराज्य स्वयं वारा गया।
समय जा रहा और काल है आ रहा,
सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा।

कीट-पूर्ण हैं कुसुम, कंटकित है मही,
जो सबसे बच निकल चले, विजयी वही।
कर्म-हेतु ही कर्म कहीं हम कर सकें,
तो उनके फल हमें कहाँ से धर सकें।

कर्त्ता मानो जिसे तात, भोक्ता वही,
बन्ध-मुक्ति की एक युक्ति जानो यही।
मेरे लिये विषाद व्यर्थ है, धन्य मैं,
सुप्त नहीं हूँ, सतत सजग, चैतन्य मैं।

मैं तो निज भवसिन्धु कभी का तर चुका,
राम-चरण में आत्म-समर्पण कर चुका।
जीव और प्रभु मध्य अड़ी माया खड़ी,
वह दुरत्यया और शक्तिशीला बड़ी।

साधो उसको और मनाओ युक्ति से,
सखे, समन्वय करो भुक्ति का मुक्ति से।"
निकल गई चुपचाप निशा अभिसारिका,
पढ़ी द्विजों ने बोधमयी कल-कारिका।

सबने मज्जन किया, निरख प्रातश्छटा,
स्वर्णघटित थी रजत जाह्नवी की घटा।
लेकर वट का दूध जटा प्रभु ने रची,
अब सुमंत्र के लिए न कुछ आशा बची।

"स्वयं क्षात्र ने लिया आज वैराग्य क्या,
शान्त सर्वथा हुआ हमारा भाग्य क्या?"
प्रभु ने उन्हें प्रबोध दिया तब प्रीति से—
"व्रत ले तो फिर उसे निभा दे रीति से।

जटा-जूट पर छत्र करे छाया भले,
किन्तु मुकुट की हँसी मात्र है तरु तले।
सौम्य, यहाँ क्या काम भला विधि वाम का ?
यह तो है सौभाग्य तुम्हारे राम का।

जाकर मेरा कुशल कहो तुम तात से,
हो सबको सन्तोष मिले जिस बात से।
मूल्य-तुल्य तुम रहो, फूल से हम खिलें,
कब बीते यह अवधि और आकर मिलें।

फिर भी ये दिन अधिक नहीं हैं, अल्प हैं,
काल-सिन्धु में बिन्दु तुल्य युग-कल्प हैं।
समयोचित सन्देश उन्हें प्रभु ने दिये,
सबके प्रति निज भाव प्रकट सबने किये।

कह न सके कुछ सचित्र विनीत विरोध में,
उमड़ी करुणा और प्रबोध निरोध में।
देख सुमन्त्र-विषाद हुए सब अनमने,
आये सुरसरि-तीर त्वरित तीनों जने।

बैठीं नाव - निहार लक्षणा - व्यञ्जना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।
बढ़ी पदों की ओर तरंगित सुरसरी,
मोद-भरी मदमत्त झूमती थी तरी।

धो ली गुह ने धूलि अहिल्या - तारिणी,
कवि की मानस-कोष-विभूति-विहारिणी।
प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया,
कर चरणामृत-पान अमर-सा हो गया !

हींस रहे थे उधर अश्व उद्ग्रीव हो,
मानों उनका उड़ा जा रहा जीव हो।
प्रभु ने दिये प्रबोध हाथ से, हेर कर,
पोंछा गुह ने नेत्र-नीर, मुँह फेर कर।

कोमल है बस प्रेम, कठिन कर्तव्य है,
कौन दिव्य है, कौन न जाने भव्य है ?
"जय गंगे, आनन्द-तरंगे, कलरवे,
अमलअंचले, पुण्यजले, दिव-संभवे !

सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा।
दरस-परस की सुकृत-सिद्धि ही जब मिली,
माँगे तुम से आज और क्या मैथिली ?

बस, यह वन की अवधि यथाविधि तर सकूँ,
समुचित पूजा भेंट लौटकर कर सकूँ।"
उद्भासित थी जह्नुनन्दिनी मोद में।
किरण मूर्तियाँ खेल रही थीं गोद में।

वैदेही थीं झलक झलक पर झूमतीं,
त्रिविध-पवन-गति अलक-पलक थी चूमती।
बोले तब प्रभु परम पुण्य पथ के पथी—
"निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी।"

"तुम्हीं पार कर रहे आज जिसको अहो !"
सीता ने हँस कहा—"क्यों न देवर कहो ?"
"है अनुगामी मात्र देवि, यह दास तो !"
गुह बोला—"परिहास बना वन वास तो !"

वहाँ हर्ष के साथ कुतूहल छा गया,
नाव चली या स्वयं पार ही आ गया !
"मिलन-स्मृति-सी रहे यहाँ यह क्षुद्रिका,"
सीता देने लगीं स्वर्णमणि-मुद्रिका।

गुह बोला कर जोड़ कि—"यह कैसी कृपा ?
न हो दास पर देवि कभी ऐसी कृपा।
क्षमा करो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं, हे राम ! चरण-रज दो मुझे।

जड़ भी चेतन मूर्त्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे।"
उसे हृदय से लगा लिया श्रीराम ने,
ज्यों त्यों करके बिदा किया धी-धाम ने।

पथ में सब के प्रीति हर्ष विस्मय बने,
तीर्थराज की ओर चले तीनों जनें।
कहीं खड़े थे खेत, कहीं प्रान्तर पड़े,
शून्य सिन्धु के द्वीप गाँव छोटे-बड़े।

पथ के प्रहरी वृक्ष झूमते थे कहीं,
खग मृग चरते हुए घूमते थे कहीं।
छोटी-मोटी कहीं कहीं थीं झाड़ियाँ
बनीं शशादिक हेतु प्राकृतिक बाड़ियाँ।

पगडंडी थी गई मार्ग से ठीक यों—
शास्त्र छोड़ बन जाय लोक की लीक ज्यों।
टीले दीखे कहीं और भरके कहीं,
दृश्य बावड़ी, कूप और सर के कहीं।

पथ पार्श्वों में मिले पथिक-चत्वर उन्हें,
कौतूहल ने हरा किया सत्वर उन्हें।
चरणों पर कण और मुखों पर बिन्दु थे,
रजःपूर्ण थे पद्म, अमृतयुत इन्दु थे।

देख घटा सी पड़ी एक छाया घनी,
ठहर गये कुछ काल वहाँ कोसलधनी।
"तुम दोनों क्या नहीं थके? मैं ही थकी?"
सीता कुछ भी और न आगे कह सकीं।

हँसते हँसते सती अचानक रो पड़ी,
तप्त हेम की मूर्ति द्रवित-सी हो पड़ी।
"मुझको अपने लिये नहीं कुछ सोच है,
तुम्हें असुविधा न हो यही संकोच है।"

"प्रिये हमारे लिए न तुम चिन्ता करो,
अभी नया अभ्यास तनिक धीरज धरो।"
जुड़ आई थीं वहाँ नारियाँ ग्राम की,
वे साधक ही सिद्ध हुईं विश्राम की।

सीता सब से प्रेम-भाव-पूर्वक मिलीं,
लतिकाओं में कुसुमकली-सी वे खिलीं।
"शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?"
"गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।"

वैदेही यह सरल भाव से कह गईं,
तब भी वे कुछ सरल हँसी हँस रह गईं।
यों स्वच्छन्द विराम लाभ करते हुए,
मार्ग-जनों में भूरि भाव भरते हुए।

पर दिन तीनों तीर्थ-राज में आ गये,
द्विगुण पर्व-सा भरद्वाज मुनि पा गये।
स्वयं त्रिवेणी धन्य हुई उन तीन से,
बोल उठे सौमित्रि अमृत में लीन से—

"देखो भाभी, तीर्थराज की यह छटा,
वर्षा से आ मिली शरद की-सी घटा!"
हँस कर बोलीं जनकसुता सस्नेह यों—
"श्याम-गौर तुम एक प्राण, दो देह ज्यों।"

रामानुज ने कहा कि "भाभी, क्यों नहीं,
सरस्वती सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं।"
"देवर, मेरी सरस्वती अब है कहाँ?
संगम शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ!

धूप छाँह का वस्त्र मात्र उसका बड़ा,
मन्द पवन से लहर रहा है यह पड़ा।"
प्रभु बोले—"यह गीत काव्य-चित्रावली!,
तुम माई के लाल, जनक की वे लली!

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला,
किन्तु आप अनुभूति यहाँ है निश्चला!
तुम ये दो दो कलाकार जीते रहो,
मुझे प्रशंसा कठिन एक की भी अहो?

सुनो मिलन ही महातीर्थ संसार में,
पृथ्वी परिणत यहीं एक परिवार में।
एक तीसरे हुए मिले जब दो जहाँ,
गंगा-यमुना बनीं त्रिवेणी ज्यों यहाँ।

त्याग और अनुराग चाहिये बस, यही,"
भरद्वाज ने कहा—"भरा तुम में वही।
जाओगे तुम जहाँ तीर्थ होगा वहीं,
मेरी इच्छा है कि रहो गृह-सम यहीं।"

प्रभु बोले—"कृतकृत्य देव, यह दास है,
पर जनपद के पास उचित क्या वास है?
ऐसा वन निर्देश कीजिए अब हमें,
जहाँ सुमन-सा जनक-सुता का मन रमे।

अपनी सुधि ये कुल-स्त्रियाँ लेतीं नहीं,
पुरुष न ले तो उपालम्भ देतीं नहीं।"
"कर देती हैं दान न अपने आपको,
कैसे अनुभव करें स्वात्म-संताप को।

वैदेही की जाति सदैव विदेहिनी,
वन में भी प्रिय-संग सुखी कुल गेहिनी।
चित्रकूट तब तात तुम्हारे योग्य है,
जहाँ अचल सुख और शान्ति आरोग्य है।"

"जो आज्ञा" कह राम सहर्ष प्रयाग से,
चित्रकूट की ओर चले अनुराग से।
दिखला आये मार्ग आप मुनिवर उन्हें,
मिली सूर्य की सुता धन्य धुनिवर उन्हें।

जल था इतना अमल कि नभ-सा नील था,
विभु वपु के ही वर्ण-योग्य समशील था।
राजपुत्र भी कलाकार थे वे कृती,
धीर, धारणाधार, धुरन्धर ध्रुवधृती।

लक्ष्मण लाये दारु-लतायें तोड़कर,
नौका निर्मित हुई उन्हीं को जोड़कर।
सभी निछावर स्वावलम्ब के भाव पर,
सीता प्रभु-कर पकड़, चढ़ीं निज नाव पर।

ज्यों पुरन पर फुल्ल पद्मिनी तर चली,
चले सहारा दिये हंस-सम युग बली।
करके यमुना-स्नान बिलम वट के तले,
लक्ष्मण, सीता, राम विकट वन को चले।

वहाँ विविध वैचित्र्य, विलक्षण ठाठ थे,
अगणित आकृति दृश्य प्रकृति के पाठ थे।
वन में अग्रज अनुग, अनुग हैं अग्रणी,
सीता ने हँस कहा—"न हो कोई व्रणी।"

"भाभी, फिर भी गईं न आईं तुम कहीं,
मध्यभाग की मध्य भाग में हो रहीं!"
मुसकाये प्रभु मधुर मोदधारा बही—
"वन में नागर भाव, प्रिये, अपना यही।

बीते योंही अवधि यहाँ हँस-खेलकर,
तो हम सब कृतकृत्य, कष्ट भी झेलकर।"
"आहा! मैं तो चौंक पड़ी, यह कक्ष से—
फड़ फड़ करके कौन उड़ा दृढ़ पक्ष से।

देखो, पहुँचा हाल कहीं का वह कहीं,
वैमानिक हो, किन्तु मनुज पक्षी नहीं।
ऊपर विस्तृत व्योम, विपुल वसुधा तले,
फिर भी, कैसे फाड़ फाड़ अपने गले—

वे तीतर नख-चंचु मार कर लड़ रहे,
कौन कहे, किस तुच्छ बात पर अड़ रहे।
यहाँ सरल संकुचित घनी वनवीथि है,
वनस्थली की माँग बनी वन-वीथि है!

वनलक्ष्मी सौभाग्यवती फूले-फले,
झूले शिशु-सी शान्ति, पवन पंखा झले।
आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
पत्तों से पथ झाड़, चपल चितचोर यह।

मचक मचक वह कीश-मण्डली खेलती,
लचक लचक बच डाल भार है झेलती।
नाथ, सभी कुछ त्याग, जानकर झूठ ही,
खड़े तपस्वी-तुल्य कहीं ये ठूँठ ही।"

"इन पर भी तो प्रिये, लतायें चढ़ रहीं,
मानों फिर वे इन्हें हरा कर बढ़ रहीं!"
"कहीं सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।

घुस धीरे से किरण लोल दल-पुञ्ज में,
जगा रही है उसे हिला कर कुञ्ज में।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट-सी पलट, लेटती है वहीं।

सखि तरुवर-पद-मूल न छोड़ो तुम कभी,
एक-रूप है वहाँ फूल काँटे सभी!
फैलाये यह एक पक्ष, लीला किये,
छाती पर भर दिये, अंग ढीला किये—

देखो, ग्रीवा-भंग-संग किस ढंग से,
देख रहा है हमें विहंग उमङ्ग से।
पाता है जो जहाँ ठौर, उगता वहीं,
मिलता है जो जिसे जहाँ चुगता वहीं।

यत्र तत्र उद्योग सर्व सुखसत्र है,
पर सुयोग-संयोग मुख्य सर्वत्र है।"
"माना आर्ये, सभी भाग्य का भोग है,
किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है।"

"प्रिये, ठीक है, भेद रहा बस नाम का,
लक्ष्मण का उद्योग भाग्य है राम का।"
"नाथ, भाग्य तो आज मैथिली का बड़ा,
जिसको यह सुख छोड़ न घर रहना पड़ा।

वह किंशुक क्या हृदय खोलकर खिल गया,
लो, पलाश को पुष्प-नाम भी मिल गया।
ओहो! कितनी बड़ी केंचुली यह पड़ी,
पवन-पान कर फूल न हो फिर उठ खड़ी!"

"आर्ये, तब भी हमें कौन है भय भला?
वह मरने भी चला, मारने जो चला!
अच्छा, ये क्या पड़े? बताओ तो सही,"
"देवर, सब सब नहीं जानते बस यही।

विविध वस्तुएँ हमें यहाँ हैं देखनी,
पर इनसे क्या बनें न सुन्दर लेखनी?"
"ठीक यहाँ पर शल्य छोड़कर शल गया,
नाम रहे, पर काम बराबर चल गया।

मुस्तक गंधा खुदी मृत्तिका है इधर,
बनें आर्द्र पद-चिन्ह, गये शूकर जिधर।
देखो शुक-शिशु निकल निकल वह नीड़ से,
घुसता है फिर वहीं भीत-सा भीड़ से।

नीरस तरु का प्राण शान्ति पाता नहीं,
जा जाकर भी अवधि बिना जाता नहीं!"
"पास पास ये उभय वृक्ष देखो अहा!
फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा।"

है ऐसी ही दशा प्रिये नर-लोक की,
कहीं हर्ष की बात, कहीं पर शोक की।
ज्ञान विषम झंखाड़ बने बन में खड़े,
काँटे भी हैं कुसुम-संग बाँटे पड़े!"

"काँटों का भी भार मही माता सहै;
जिसमें पशुता यहाँ तनिक डरती रहै।
बन तो मेरे लिये कुतूहल हो गया;
कौन यहाँ पर विपुल बीज ये बो गया?

अरे भयंकर नाद कौन यह भर रहा?"
"भाभी, स्वागत सिंह हमारा कर रहा।
देखा चाहो शब्दवेध तुम, तो कहो?"
"फिर देखूँगी अभी शान्त ही तुम रहो।

वन में सौ सौ भरे पड़े रस के घड़े,
ये मटके से लटक रहे कितने बड़े!
क्या कर सकती नहीं क्षुद्र की भी क्रिया?"
पुलक उठीं मधुचक्र देख प्रभु की प्रिया;

"माली हारें सोच जिन्हें आराम में,
बढ़ते हैं वे वृक्ष सहज बन धाम में।
आहा! ये गज-दन्त और मोती पड़े;
पके फलों के साथ साथ मानो झड़े।

जिन रत्नों पर बिकें प्राण भी पण्य में;
वे कंकड़ हैं निपट नगण्य अरण्य में!"
चल यों सब वाल्मीकि महामुनि से मिले;
ध्यान-मूर्ति निज प्रकट प्राप्त कर वे खिले।

वे ज्यों कवि-कुल देव धरा पर धन्य थे;
ये नायक नर-देव अपूर्व अनन्य थे।
"कवे दाशरथि राम आज कृतकृत्य है,
करता तुम्हें प्रणाम सपरिकर भृत्य है।"

"राम तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है;
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।
आये फिर सब चित्रकूट मोदित-मना,
औ अटूट गढ़ गहन वन श्री का बना।

जहाँ गर्भगृह और अनेक सुरंग थे,
विविध धातु-पाषाण-पूर्ण सब अंग थे।
जिसकी शृंगावली विचित्र बढ़ी-चढ़ी,
हरियाली की मूल, फूल-पत्ती कढ़ी।

गिरि हरि का हर-वेष देख वृष बन मिला,
उन पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला।
"शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा।
करता है नग-गान प्रकृति-अभिषेक सा,

क्षिप्त सलिलकण किरण योग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि-सम्पदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष विस्मय बड़ा?"

लक्ष्मण ने झट रची मन्दिराकृति कुटी;
मधु-सुगन्ध के हेतु सरोरुह-सम्पुटी।
वास्तु-शान्ति सी स्वयं प्रकट थीं जानकी,
की मुनियों ने रीति तथापि विधान की।

वनचारी जन जुड़े जोड़ कर डालियाँ;
नृत्य-गान-रत हुए बजाकर तालियाँ।

"लेकर पवित्र नेत्रनीर रघुवीर धीर,
वन में तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम;
व्योम के वितानतले चन्द्रमा का, छत्र तान,
सच्चा सिंह-आसन बिछा दें बैठ जाओ तुम।

अर्घ्य, पाद्य और मधुपर्क यहाँ भूरि भूरि,
अतिथि-समादर नवीन नित्य पाओ तुम;

जंगल में मंगल मनाओ अपनाओ देव,
शासन जनाओ हमें नागर बनाओ तुम।"
पृथ्वी की मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर।
स्वर्गंगा उसमें उतर डूबी अम्बर बोर॥

कुब्जा

कंसराज के लिए ले चली,
फूल और चन्दन में,
पहुँच पार्श्व से बोला पथ में
"शुभे नन्द-नन्दन मैं।
किसके लिए लिये जाती हो
तुम पूजा की थाली?"
यह कह कर क्या जाने कैसे
मुसकाया वनमाली।
रवि-शशि लटके रहें शून्य में
उसमें सार भरा था,
धन्य, धरा ने ही उस धन का
गौरव-भार धरा था।
अथवा अपने पैरों पर ही
खड़ा आप वह नरवर,
बची रसातल जाने से यह
धरा वही पद धर कर।
कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था,
कच कन्धरा ढँके थे;
स्वर्ण-वर्ण के उत्तरीय में
चित्रित रत्न टँके थे।
दुगने-से दो भुज विशाल थे
पार्श्व छीलते छिलते
गण्ड-द्युति-मण्डल से मण्डित
श्रुति-कुण्डल थे हिलते।

चिबुक देख फिर चरण चूमने
    चला चित्त चिर चेरा
वे दो ओंठ न थे, राधे, था
    एक फटा उर तेरा !

फिर भी उसके दन्त-हास में
    मोती खो जावेंगे;
उस नासा को निरख कुटिल भी
    सीधे हो जावेंगे।

देख लिया मैंने सहस्रदल,
    ले उस मुख की झाँकी;
वृद्ध न होकर बाल बनी थी
    पलट प्रौढ़ता बाँकी !

उन काली आँखों में कैसी
    उजली दृष्टि निहारी;
जान पड़ा व्रज-कुञ्ज-विहारी
    मुझको विश्व-विहारी

श्याम-रूप हो, न हो, राम ही
    पुनः आप आया वह;
पर इस कंसपुरी में भी क्यों
    नहीं चाप लाया वह ?

हृदय सशंक हुआ पर आहा !
    बंक भृकुटियाँ तीखीं,
निस विलास में विश्व नचाती,
    वंशीधर की दीखीं।

मेरे मन की मूर्ति ढली थी
    उसके साँचे में वह;
खेल रहा था नारायण ही
    नर के ढाँचे में वह।

मोर-पङ्ख भी मुकुट बना था
उसके अपनाने से,
सिंह पुरुष बन जाय हाय वह!
पीताम्बर पाने से।

पड़ी तरल यमुना तरङ्गिणी
घनी खड़ी हो जावे,
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ
रङ्ग-ढङ्ग वह पावे।

वह सजीव रचना थी युग की
पल में आकर झलकी;
नहीं समाई जड़-जंगम में
छवि उसकी जो छलकी।

काम-रूप-धारी वह जलधर
जगमग ज्योतिर्मय था;
घन होकर भी सहृदय था वह,
निर्भय किन्तु सदय था।

ललित गभीर तदपि चञ्चल-सा
वह विस्फूर्ति-भरा था,
मूर्तिमन्त भव-भद्र भाद्र सा
श्यामल हरा हरा था।

राधा ने पहनाया होगा
वह रण-कंकण उसको;
और मिल चुकी थी जय निश्चय
वहीं उसी क्षण उसको।

व्रजरानी के विजयी वर के
धरे चरण हो चेरी;
पर अपने अतिरिक्त भेंट क्या
हो सकती है नेरी?

देखा मैंने, देव आज ही
मेरे आगे आया;
अब तक दानव-पूजन में ही
मैंने जन्म गँवाया।

मैं ऊँची न हो सकी, फिर भी
हिलते हाथ बढ़ाए;
माथे में चन्दन, चरणों पर
मैंने फूल चढ़ाये।

बायें कर से सिर सँभाल की
धर दायें से ठोड़ी;
किया मुझे उत्कर्षित उसने,
शक्ति लगाकर थोड़ी।

देख पैर उठते चरणों से
हँस कर इन्हें दबाया;
मैं उठ गई और कूबड़ का
मैंने पता न पाया!

चमक गई बिजली-सी भीतर
नस-नस चौंक पड़ी थी,
तनी जन्म की कुब्जा क्षण में
सरला बनी खड़ी थी।

चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर
मायावी मुसकाया;
हुआ नया निस्पंदन उर में,
पलट गई यह काया।

मैं ही नहीं सृष्टि ही सारी
पलट गई थी पल में,
उतर इन्द्र का नन्दन वन-सा
छाया था भूतल में।

इस भव में रस और भाग था
मेरा भी उस रस में;
छूटे स्रोत, साथ ही शतदल
फूटे इस मानस में।

सत्य हुआ मैं देख रही थी
अनदेखे सपने को;
आत्म-ग्लानि छोड़कर मैंने
देखा तब अपने को।

"अब फिर कभी मिलूँगा" कहकर
हँसता चला गया वह,
ज्यों-ज्यों दूर गया, मानस में
धँसता चला गया वह।

धरती ही देखी थी मैंने
पृष्ठ-भार से झुक कर।
अब ऊँची ग्रीवा कर सीधी
देखा नभ रुक रुक कर।

ओ हो! वही सुनील वर्ण था
उसी मदनमोहन का,
एक पद्मिणी तुल्य ठौर ही
बहुत वहाँ इस जन का।

हरा-भरा भूतल भी ऐसा
देखा मैंने कब था,
शस्यश्यामल वर्ण वहाँ भी
उसी श्याम का अब था।

अहा! उसी में एक कुसुम-सा
यह जन भी खिल जावे;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
बस इतना मिल जावे।

देखा मैंने, रँगा उसी के
रँग में निर्मल जल है;
अनल उसी की आभा धारे,
अनिल गंध-गति-बल है।

एक तरंग एक चिनगारी,
एक साँस मैं उसकी,
बजे वेणु उस नटनागर की,
एक आँस मैं उसकी!

मेरा तत्त्व-तत्त्व तन्मय था,
किसे कंस का भय था;
लौट पड़ी मैं घर वैसी ही,
जन जन को विस्मय था।

किन्तु मुझे निर्जन अभीष्ट था,
चिन्तनार्थ कुछ मन के;
अपने को भी देख सकी थी
मैं क्या बिम्बित बन के।

लेने नहीं, राज्य देने ही
वह विक्रान्त चला था;
कंस मरा, पर उग्रसेन का
फिर भी भाग्य भला था।

रोता देख वृद्ध नृप को वह
बोला—"नाना! नाना!"
मिल वसुदेव-देवकी ने भी
भर पाया मनमाना।

आने की न आप कहता तो
कुब्जा क्या राधा थी?
मैं तो चेरी थी, जाने में
मुझे कौन बाधा थी।

किन्तु आज आकुल है वन में
जैसी वह व्रज-रानी;
दासी ने घर बैठी उसकी
मर्म-वेदना जानी।

अथवा एक परस में ही जब
तरस रही मैं इतनी,
होगी विकल न जाने तब वह
सदा संगिनी कितनी।

होती हाय! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती;
जाकर शरण इसी मिस से वे
अरुण चरण तो छूती।

कल्प हुआ यह जिस काया का,
इसे कहाँ ले जाऊँ?
आवे वही, उसे अर्पण कर,
परित्राण मैं पाऊँ।

दे न गया वह यह शरीर ही
हाय शील भी ऐसा,
करते बनता नहीं, चाहती
हूँ मैं करना जैसा।

आया नहीं विसासी अब भी
बस ये आँसू आये,
अहा! उसी लावण्य-सिन्धु का
रस ये आँसू लाये।

पी पी कर मैं इन्हें, भाग्य को
अब भी कैसे कोसूँ?
पर अजान इस आतुर उर को
कब तक पालूँ-पोसूँ?

आई रात, हुआ चन्द्रोदय
मैंने यही विचारा—
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या
वह तमिस्र, मैं तारा !

हुआ प्रभात और अरुणोदय
गूँजी उर की अलिनी,
उसी पूर्व की फटती पौ में
उसी हंस की नलिनी।

चढ़ी बहुत निज नील गगन में
मैंने पार न पाया;
ढुलक पड़ी मैं आप ओस-सी
हा ! आधार न पाया।

रह सकता है बस यह पानी
उन्हीं नखों पर चढ़ के;
किन्तु पधारे कहाँ चरण वे
लूँ मैं जिनको बढ़ के।

वह भीतर ही रहा, व्यर्थ ये
द्वार सजाये मैंने;
श्रुति-अतीत-वह, क्यों इस तन के
तार बजाये मैंने ?

क्यों घृत-दीप जलाये मैंने ?
माखन-चोर न आया,
फिर भी अन्तर में तो छाया
वह नव-घन मन-भाया।

स्नेह-हीन दीपक सो जावें,
सजग, सजल लोचन तो,
फीके पड़ें सुमन चिन्ता क्या ?
अनुरंजित यह मन तो।

मेरा अतिथि देव आवे तो
मैं सिर माथे लूँगी;
उसने मुझको देह दिया, मैं
उसे प्राण भी दूँगी।

धड़क न वक्ष, कक्ष में है वह,
फड़क वाम-भुज मेरे।
मिले मिलनमय अन्त मुझे, तो
सफल सभी रुज मेरे।

रहें भ्रांतियाँ रहें श्रांतियाँ
रहें क्रांतियाँ चाहे;
नटवर! तेरा नाट्य-बन्ध निज
सन्धि-शान्ति निर्वाहे।

कांति हो चुकी, श्रांति मेट अब
आ, मैं व्यजन करूँगी;
मोती न्योछावर करके, वे
श्रम-कण बीन धरूँगी।

मेरा ही अधिकार वहाँ, सुन
राधा रुष्ट न होगी;
दासी को वंचित कर, तेरी
रानी तुष्ट न होगी।

वह ब्रज-रानी भी नारी है,
यह सरला भी नारी;
आत्म-समर्पण के दोनों जन
हम समान अधिकारी।

एक पुरुष से योषिता ने,
सहज किसे न मिलाया;
पर मेरा नारीत्व निहित था,
तूने आप जिलाया।

कूबड़ न था, कुण्डली पकड़े—
जकड़े मुझे पड़ा था;
तूने कौन मन्त्र फूँका, वह
उठ हट दूर खड़ा था!

किन्तु विरह-वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा,
गुणी गारुड़िक, दूर खड़ा तू
कौतुक देख न मेरा।

तू न आज भी आवेगा तो
मैं ही कल जाऊँगी;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो
तेरी मैं पाऊँगी।

यही कहेगा न तू—"अधीरे,
निकली तू चेरी ही!"
हाँ, हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।

गये हुए धन-सा, मन में ही
रक्खूँ क्या मैं तुझको?
तो यह मेरा तन क्यों तू ने
दिया बनाकर मुझको?

रोम रोम बस तुझे पुलक-सा
पाकर जड़ रह जावे;
और उन्हीं चरणों में जीवन
स्वेद बना बह जावे।

पत्र पत्र में तेरी आहट
चौंकाती आती है;
किन्तु प्रतीक्षा में ही वेला—
बीत बीत जाती है।

निद्रा तेरा स्वप्न ले गई,
अरे सत्य अब आ जा;
जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं,
ओ राजों के राजा!

अहोरात्र के पंख लगाकर,
सुध-सी उड़ती हूँ मैं;
तेरे मिलने को अपने से
आप बिछुड़ती हूँ मैं।

और बड़ा कौतुक तो यह, तू
यहीं कहीं बैठा है,
ओ कठोर, कह किस कोठे में
तू घुसकर पैठा है?

तेरी व्यथा बिना सुन मेरी-
कथा न पूरी होगी;
तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक, वियोगी।

तेरे जन अगणित, परन्तु मैं
एक विजनता तेरी;
बस इतनी ही मति है मेरी
इतनी ही गति मेरी।

गीत

(१)

सखि, बसन्त-से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया;
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया!
सूखा कण्ठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया;
झुलसी दृष्टि, अँधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका
जलती है हा! जठर मही!
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही!

जागी किसकी वाष्पराशि, जो सूने में सोती थी?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दयादृष्टि रोती थी;
विश्ववेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी?

किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज वही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा व्यथा सही।

उनकी शान्ति कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल-पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल-थल में।
नाच उठी आशा प्रतिदल पर किरणों के झल-झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हँसों के कल-कल में।

पर मेरे मध्याह्न! बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

हेम-पुञ्ज हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज बिसारूँ?
किन्तु शिशिर, ठंडी ये साँसें हाय! कहाँ तक धारूँ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?

मेरी बाँह गही स्वामी ने,
मैंने उनकी छाँह गही।
मैंने ही क्या सहा सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।
उनके तप के अग्निकुण्ड से घर-घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध दही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

आशा से आकाश थमा है, श्वास तन्तु कब टूटे?
दिन-मुख दमके, पल्लव चमके भव ने नव रस लूटे!
स्वामी के सद्भाव फैलकर फूल फूल में फूटे,
उन्हें खोजने की ही मानो नूतन निर्झर छूटे।

उनके श्रम के सब फल भोगें
यशोधरा की विनय यही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

(२)

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ।
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।

ऊषा सी आई थी जग में, सन्ध्या सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन से ये आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ!

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल हाय! किधर मैं जाऊँ?
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट कह तो हा-हा खाऊँ?

(३)

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।

नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—यह हरनेत्र निहारो!
रूप, दर्प, कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरणधूलि उस रति के सिर पर धारो!

(४)

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है!
सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता!'
पर पतंग पड़ कर ही रहता

कितनी विह्वलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बचकर हाय! पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं हो मरा करे क्या?

क्या यह असफलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे—
"तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे?

शरण किसे छलता है?"
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती,
काम नहीं, परिणाम निरखती।
मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

(५)

देखता हूँ मैं अद्भुत आज,
संगिनि, दूर नहीं अब मुझ से वे मेरे अधिराज।
हेम-हर्म्य में अपने प्रभु को
क्या हम बैठ बुलाते थे?
जहाँ हमी को ईश मानकर
अनुचर चँवर डुलाते थे।
नहीं, शिल्प-कौशल से उत्सुक
मन को वहाँ भुलाते थे;
प्रभु के बदले पाते थे बस राजोचित सब साज।
देखता हूँ मैं अद्भुत आज।
निर्मल जल के तीर उन्हीं का
आराधन हम करते थे;
किंवा शत-तरंग-भंगों से
अपना मानस भरते थे!
अन्यमनस्क देखकर हमको
प्रभु भी दूर विचरते थे;
पतियाते थे कब जलचर भी, आती है अब लाज।
देखता हूँ मैं अद्भुत आज।

कुंजों में ही अपने प्रभु की
बाट जोहते थे जब हम,
उनको भूल कुसुम-वैभव ही
देख मोहते थे जब हम।
एक उन्हीं को अन्धभाव से
कहाँ टोहते थे कब हम?

माँ की कृपा कुणाल न भूले, फूले स्वजन समाज।
देखता हूँ मैं अद्भुत आज।

(६)

हे अवनि और अम्बर, प्रणाम;
करता हूँ सबसे राम राम।

हे रवि-शशि-ग्रह-तारक समाज,
हे वर्ण वर्ण के साज-बाज,
लेता हूँ सबसे बिदा आज।

रह हरा-भरा तू धरा धाम!
करता हूँ सबसे राम राम।

हे ह्रद-नद-निर्झर, धरे वेत्र,
हे वन उपवन, हे हरे क्षेत्र,
रह जायँ रिक्त ये भरे नेत्र,

तुम भरे रहो चिर सरस-श्याम।
करता हूँ सबसे राम राम।

हे सान्ध्य वृष्टि-घन मधुर मन्द्र,
शुभ शरन्निशा के कुमुद-चन्द्र,
मधु के प्रभात-अम्बुज अतन्द्र,

लूँ मैं किस किस का आज नाम?
करता हूँ सबसे राम राम।

बाहर से कुछ दीखे न आज,
सब रहें किन्तु भीतर विराज।
रम रहा व्यक्ति में ज्यों समाज,

तुम जागो मुझ में अष्ट याम,
करता हूँ सबसे राम राम।

अवलोक लोक - सौन्दर्य - सृष्टि,
हो गई कृतार्थ कुणाल - दृष्टि।
सब संसृति पर हो अमृत-वृष्टि,

गूँजे घर-घर में तीन ग्राम।
करता हूँ सबसे राम राम।

छोड़े मैंने मणि - रत्न आज,
चुक गये स्वयं वे यत्न आज,
पर मेरा कौन सपत्न आज?

मैं दक्षिण हूँ, विधि रहे वाम।
करता हूँ सबसे राम राम।

दीखे न भले ही रूप-रंग,
आने दो द्विज! निज ध्वनि तरंग!
श्रुति में ही दर्शन के प्रसंग!

निष्काम, आप ही पूर्णकाम।
करता हूँ सबसे राम राम।

निर्मुक्त हुई यह आज सीप,
तुम जलो न मेरे अर्थ दीप!
झुलसे न शलभ आकर समीप;

मेरी निशि में सब लें विराम।
करता हूँ सबसे राम राम।

———

लज्जा

"कोमल किसलय के अंचल में,
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी।

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों।
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती?
कोमल बाहें फैलाये सी
आलिंगन का जादू पढ़ती?

किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग कण राग-भरे।
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे?

पुलकित कदम्ब की माला सी
    पहना देती हो अन्तर में,
झुक जाती है मन की डाली
    अपनी फलभरता के डर में।

बरदान सदृश हो डाल रही
    नीली किरणों से बुना हुआ,
यह अंचल कितना हलका सा
    कितने सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं
    कोमलता में बल खाती हूँ,
मैं सिमिट रही सी अपने में
    परिहास गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी
    नयनों में भर कर बाँकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
    वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपने कलरव का
    संसार आँख जब खोल रहा।
अनुराग समीरों पर तिरता
    था इतराता सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में
    उठती उस सुख के स्वागत को,
जीवन भर के बल वैभव से
    सत्कृत करती दूरागत को।

किरनों का रज्जु समेट लिया
    जिसका अवलम्बन ले चढ़ती,
रस के निर्झर में धँस कर मैं
    आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने में हिचक, देखने में,
पलकें आँखों पर झुकती है,
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं !

संकेत कर रही रोमाली,
चुपचाप बरजती खड़ी रही,
भाषा बन, भौंहों की काली
रेखा सी, भ्रम में पड़ी रही।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतन्त्रता छीन रही,
स्वच्छंद सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही !"

सन्ध्या की लाली में हँसती
उसका ही आश्रय लेती सी,
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी
श्रद्धा का उत्तर देती सी।

"इतना न चमत्कृत हो बाले !
अपने मन का उपकार करो,
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो।

अम्बर-चुम्बी हिम शृङ्गों से
कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये।

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें
निखरी हो ऊषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली,

हो नयनों का कल्याण बना
आनन्द सुमन सा विकसा हो,
वासन्ती के वन-वैभव में
जिसका पञ्चम स्वर पिक सा हो।

जो गूँज उठे फिर नस नस में
मूर्च्छना समान मचलता सा,
आँखों के साँचे में आकर,
रमणीय रूप बन ढलता था।

नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस-घन से छा जाती हो,
वह कौंध कि जिससे अन्तर की
शीतलता ठंढक पाती हो।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की सी ममता हो,
जागरण प्रात सा हँसता हो
जिसमें मध्याह्न निखरता हो।

हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर से,
उस नवल चंद्रिका से बिछले
जो मानस की लहरों पर से।

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनंदन में,
मकरंद मिलाती हों अपना
स्वागत के कुंकुम चन्दन में।

कोमल किसलय मर्मर रव से
जिसका जय-घोष सुनाते हों,
जिसमें दुख-सुख मिलकर मन के
उत्सव आनन्द मनाते हों।

उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौंदर्य्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव-महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।

मैं देव-सृष्टि की रति रानी
निज पचबाण से वंचित हो,
बन आवर्जना-मूर्ति दीना
अपनी अतृप्ति सी संचित हो।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में
अपनी अतीत असफलता सी,
लीला विलास की खेद भरी
अवसादमयी श्रम-दलिता सी।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता-पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन सी लगती,
कुंचित अलकों सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।"

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है ?
इस निबिड़ निशा में संसृति की
आलोकमयी रेखा क्या है ?

यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ ;
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ ।

पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है !
घनश्याम-खंड सी आँखों में
क्यों सहसा जल भर आता है !

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्राम - महातरु - छाया में ;
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में ?

छायापथ में तारक - द्युति सी
झिलमिल करने की मधु लीला ,
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रम-शीला ?

निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में ,
चाहती नहीं जागरण कभी
सपने की इस सुघराई में ,

नारी - जीवन का चित्र यही
क्या ? विकल रंग भर देती हो ,
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला को देती हो ।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच विचार न कर सकती ;
पगली सी कोई अन्तर में
बैठी जैसे अनुदिन बकती।

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ;
भुज लता फँसा कर नर तरु से
झूले सी झोंके खाती हूँ।

इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है ;
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।"

"क्या कहती हो ठहरो नारी !
संकल्प अश्रु जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने से सपने।

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पग तल में ;
पीयूष - स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा ;
तुमको अपनी स्मित-रेखा से
यह संधि पत्र लिखना होगा।

प्यारा भारतवर्ष

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार।
लगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक;
व्योम तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत,
सप्त स्वरं सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत
बचाकर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत
अरुण के तन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बड़े अभीत।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास,
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थियुग का मेरे इतिहास।
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह,
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में .वह राह।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद,
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम!
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर घर घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्णभूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का उत्थान पतन आँधियाँ, झड़ी प्रचण्ड समीर
खड़े देखा झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता सदा रही सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।

हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव,
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

अरी वरुणा की शान्त कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार!

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन-कुञ्ज!
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता पादप सुमनों के पुञ्ज!
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार!
स्वर्ग की वसुधा से शुचि सन्धि, गूँजता था जिससे संसार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारे कुञ्जों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार?

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़कर पार्थिव भोग-विभूति प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार
पिता का वक्षभरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार
सुनाने आरण्यक संवाद तथागत आया तेरे द्वार

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शान्त,
तिमिर का हरने को दुख-भार, तेज अमिताभ अलौकिक कान्त।
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्यपथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष, यहीं पर हुआ जलद स्वर-मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारंबार।
आज कितनी शताब्दियों बाद, उठी ध्वंसों में वह झङ्कार।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्ववाणी का बने विहार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

आत्मकथा

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।

इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यङ्ग्य-मलिन उपहास,

तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।

यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों को दिखलाऊँ मैं।

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातों की।

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिङ्गन में आते-आते मुसकाकर जो भाग गया।

जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिणी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।

उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक के पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?

सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

———

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन पतंग
जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ-पुञ्ज से कण-कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग?

है ऊँचा आज मगध शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान-भंग?

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुँकारों से,
नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?
शासन रे मानव मन का!
गिरि-भार बना सा तिनका,
वह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि-शशि किरणों का प्रसंग!

यह महादम्भ का दानव—
पीकर अनङ्ग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय-पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधु-शाला
जग पागल होने वाला,
अब गिरा उठा मतवाला,
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रङ्ग।

काली काली अलकों में,
आलस मद-नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षणभंगुर है तरङ्ग।

फिर निर्जन उत्सव-शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधुबाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदङ्ग।

इस नील विषाद-गगन में—
सुख चपला सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु मरीचिका-वन में,
उलझा है चंचल मन-कुरङ्ग!

आँसू कन कन ले छल-छल—
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में हैं चंचल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना-विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय-सोमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढङ्ग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु-पिंगल सन्ध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रंग ?

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधु-पान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति मग,
जलती सिकता का यह मग,
बहता बन वरुणा की तरंग।
जलता है यह जीवन पतंग।

प्रलय की छाया

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में!
और उस दिन तो;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंगरलियाँ।
दूरागत वंशी रव—
गूँजता था धीमरों की छोटी छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रन्ध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को हँसाने को।

'पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गन्ध से
कस्तूरी मृग जैसी !
'पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।
नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजड़ित मधु भार से।
हँसतीं अनङ्ग-बालिकायें अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नत शिर देख मुझे।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अङ्गलतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं !
नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सरायें मानों वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुसकान खिल पड़ती !
नूपुरों की झनकार घुली जाती थी
चरण-अलक्तक लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगंत व्यापी सन्ध्या-संगीत को।
कितनी मादकता थी।
लेने लगी झपकी मैं
सुख-रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती;
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो

कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।"

"आँखें खुलीं;
देखा मैंने चरणों में लोटती थी

विश्व की विभव-राशि,
और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी।
वह एक सन्ध्या थी!"
"श्यामा-सृष्टि युवती थी

तारक खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त में
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी।

बहती थी धीरे धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में
मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
मधुर मरन्द-बिन्दु उसमें मिलाता था।

चाँदनी के अंचल में
हरा-भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य सी परखने को मुझको
तारिकायें झाँकती थीं।

शत शत दलों की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम में
बहती लावण्य धारा।
स्मर-शशि-किरणें,

स्पर्श करती थीं इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अङ्ग पर।
अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के;

तिरते थे—
मेरी अँगड़ाई की लहरों में।
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का।
कितना सोहाग था कितना अनुराग था!
खिली स्वर्णमल्लिका की सुरभित बल्लरी सी
गुर्जर के थाले में मरन्द वर्षा करती मैं।"
"और परिवर्तन वह!

क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई
नीले मेघ-माला सी
नियति-नटी थी आई सहसा गगन में
तड़ित विलास सी नचाती भौंहें अपनी।

"पावक सरोवर में अवभृथ स्नान था
आत्म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना

सती के पवित्र आत्मगौरव की पुण्य गाथा
गूँज उठी भारत के कोने कोने जिस दिन;
उन्नत हुआ था भाल
महिला-महत्त्व का।
दृप्त मेवाड़ के पवित्र बलिदान का

ऊर्जित आलोक
आँख खोलता था सब की।
सोचने लगी थीं कुलवधुयें, कुमारिकायें
जीवन का अपने भविष्य नये सिरे से;

उसी दिन
बाँधने लगी थी विषमयी परतन्त्रता।
देव-मन्दिरों की मूक घंटाध्वनि।

व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से

मैं भी थी कमला,
रूप-रानी गुजरात की।

सोचती थी—
"पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—

वह दावानल-ज्वाला
जिसमें सुलतान जले!
देखे तो प्रचण्ड रूप ज्वाला सी धधकती

मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह! वह कैसी स्पर्द्धा थी!
स्पर्द्धा थी रूप की

पद्मिनी की बाह्य रूपरेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सम्मुख नगण्य थी।

देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैंने समझा था यही।

वह अतिरञ्जित सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ?
वैसा दिव्य!
अपनी कमी थी इतराज चली, हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की।

"अभिनय आरम्भ हुआ
अनहिलवाड़ा में अनल चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर में

गुर्जरेश मेरे उन इंगितों में नाच उठे।
नारी के नयन! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात

किसको प्रमत्त नहीं करते
धैर्य किसका ये नहीं हरते!

यही अस्त्र मेरा था।
एक झिटके में आज
गुर्जर स्वतन्त्र साँस लेता था सजीव हो।
क्रोध सुलतान का दग्ध करने लगा

दावानल बनकर
हरा-भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का !
बालकों की करुण पुकारें, और वृद्धों की
आर्तवाणी,

क्रन्दन रमणियों का,
भैरव संगीत बना ताण्डव नृत्य-सा
होने लगा गुर्जर में।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से

फाँद पड़ी मैं भी उस देश की विपत्ति में।
वही कमला हूँ मैं !
देख चिरसङ्गिनी रणाङ्गण में, रङ्ग में,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे !
बाधा, विघ्न, आपदायें,
अपनी ही क्षुद्रता में टलतीं-बिचलतीं।
हँसते वे देख मुझे
मैं भी स्मित करती।
किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता में ?
सबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश में
छोड़ना पड़ा ही उसे।
निर्वासित हम दोनों खोजते शरण थे,
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।"
"वह दुपहरी थी,
लू से झुलसाने वाली, प्यास से जलाने वाली,
थके सो रहे थे तरु-छाया में हम दोनों
तुर्कों का एक दल आया झंझावात सा।

मेरे गुर्जरेश !
आज किस मुख से कहूँ ?
सच्चे राजपूत थे,
वह खड्गलीला खड़ी देखती रही मैं वहीं

गत-प्रत्यागत में और प्रत्यावर्त्तन में
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मैं।
वाह री नियति !

उस उज्ज्वल आकाश में
पद्मिनी की प्रतिकृति सी किरणों में बनकर
व्यंग्य-हास करती थी।
एक क्षण भ्रम के भुलावे में डाल कर

आज भी नचाती वही,
आज सोचती हूँ जैसे पद्मिनी थी कहती—
"अनुकरण कर मेरा"
समझ सकी न मैं।

पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहनी सी दृप्त मूर्ति धारण कर
सम्मुख सुलतान के,
मारने की मरने की—अटल प्रतिज्ञा हुई।

उस अभिमान में
मैंने ही कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—
"ले चलो मैं गुर्जर की रानी हूँ, कमला हूँ।"
वाह री ! विचित्र मनोवृत्ति मेरी !

कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहासशील था !
उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।
रूप यह !
देख तो तुरुष्कपति मेरा भी

यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान और कितनी अभूतपूर्व !
बन्दिनी मैं बैठी रही
देखती थी दिल्ली कैसी विभव-विलासिनी ।

यह ऐश्वर्य की दुलारी, प्यारी क्रूरता की
एक छलना सी सजने लगी थी संध्या में
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी
खोलकर ताराओं की विरल दशन-पंक्ति

अट्टहास करती थी दूर मानों व्योम में ।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में ।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति

क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुलतान ही के उस निर्मम हृदय में,
नारी मैं !
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की !

साहस उमड़ता था वेगपूर्ण ओघ सा
किन्तु हलकी थी मैं,
तृण वह जाता जैसे
वैसे मैं विचारों ही में तिरती सी फिरती ।

कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की ।
आज साक्षात् होगा कितने महीनों पर
लहरी-सदृश उठती सी गिरती सी मैं

अद्भुत ! चमत्कार !! इस निज गरिमा में
एक सौन्दर्यमयी वासना की आँधी सी
पहुँची समीप सुलतान के ।

तातारी दासियों ने मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनों पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला में रही कठिन कृपाणी जो

चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का रुधिर पान करने को।
किन्तु छिन गई वह
और निरुपाय मैं तो ऐंठ उठी डोरी सी,

अपमान-ज्वाला में अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वहीं मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला।
उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त से सोचने लगी थी मैं—

"जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है।"
चारों ओर लालसा भिखारिणी सी माँगती थी—
प्राणों के कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण में रो उठे अकिञ्चन जो—

"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है?

विश्व भर से मैं जिसे छाती में छिपाये रही।
जितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही—

अपना दल-अञ्चन पसार कर वनराजी,
माँगती है जीवन का बिन्दु बिन्दु ओस सा।

क्रन्दन करता सा जलनिधि भी
माँगता है नित्य मानो जरठ भिखारी सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।

व्याकुल हो विश्व, अन्धतम से
भोर में ही माँगता है
जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभाभरी।
जीवन ही प्यारा है, जीवन सौभाग्य है।"

रो उठी मैं रोषभरी बात कहती हुई
"मारकर भी क्या मुझे मरने न दोगे तुम ?"
मानती हूँ शक्तिशाली तुम सुलतान हो
और मैं हूँ बन्दिनी।

राज्य है बचा नहीं,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझमें रही नहीं
इतनी मैं रिक्त हूँ ?"
क्षोभ से भरा था कण्ठ फिर चुप हो रही।

शक्ति-प्रतिनिधि उस दृप्त सुलतान की
अनुनयभरी वाणी गूँज उठी कान में।
"देखता हूँ मरना ही भारत की नारियों का
एक गीतभार है !

रानी ! तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में
पद्मिनी को खो दिया है
किन्तु तुम को नहीं !
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर

निज कोमलता से—मानस की माधुरी से।
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी में
सुन न सकोगी, न विचार ही करोगी; तुम
ठहरो विश्राम करो।"

अतिद्रुत गति से,
कब सुलतान गये
जान सकी मैं न, और तब से
यह रंगमहल बना सुवर्ण पींजरा।

"एक दिन, संध्या थी ;
मलिन उदास मेरे हृदय पटल-सा
लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से ।
यमुना प्रशान्त मन्द मन्द निज धारा में,

करुण विषादमयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद सी ।
बैठी हुई कालिमा की चित्रपटी देखती
सहसा मैं चौंक उठी द्रुत पद-शब्द से

सामने था
शैशव से अनुचर
मानिक युवक अब
खिंच गया सहसा

पश्चिम-जलधि का वह सुरम्य चित्र
मेरी इन दुखिया अँखड़ियों के सामने ।
जिसको बना चुका था मेरा वह बालपन
अद्भुत कुतूहल औ' हँसी की कहानी से ।

मैंने कहा—
"कैसे तू अभागा यहाँ पहुँचा है मरने ?"
"मरने तो नहीं यहाँ जीवन की आशा में
आ गया हूँ रानी !—भला

कैसे मैं न आता यहाँ ?"
कह, वह चुप था ।
छुरे एक हाथ में
दूसरे से दोनों हाथ पकड़े हुए वहीं

प्रस्तुत थीं तातारी दासियाँ ।
सहसा सुलतान भी दिखाई पड़े,
और मैं थी मूक गरिमा के इन्द्रजाल में ।
"मृत्यु-दण्ड" ।

वज्र निर्घोष सा सुनाई पड़ा भीषणतम—
मरता है मानिक !
गूँज उठा कानों में—
"जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है।"
उठी एक गर्व सी
किन्तु झुक गई अनुनय की पुकार में
"उसे छोड़ दीजिए"—निकल पड़ा मुँह से।
हँसे सुलतान और अप्रतिम होती मैं
जकड़ी हुई थी अपनी ही लाज-शृङ्खला में।
प्रार्थना लौटाने का उपाय अब कौन था ?
अपने अनुग्रह के भार से दबाते हुए
कहा सुलतान ने—
"जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा है।'
हाय रे ! हृदय तू ने
कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणिकोष
और आकाश को पकड़ने की आशा में
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में।
"अन्तर्निहित थीं
लालसायें, वासनायें जितनी अभाव में
जीवन की दीनता में और पराधीनता में
पलने लगीं वे चेतना के अनजान में।
धीरे धीरे आती है जैसे मादकता
आखों के अजान में ललाई में ही छिपती ;
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की।
किन्तु किस युग से वासना के बिंदु रहे सींचते
मेरे संवेदनों को।
यामिनी के गूढ़ अन्धकार में
सहसा जो जाग उठे तारा-से।
दुर्बलता को मानती सी अवलम्ब मैं
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल-सी भूमि पर।

बिखरे प्रलोभनों को मानती थी सत्य मैं
शासन की कामना में झूमी मतवाली हो।
एक क्षण भावना के उस परिवर्तन का
कितना अजित था !

जीवित हैं ! गुर्जरेश कर्णदेव !
भेजा संदेश मुझे "शीघ्र अन्त कर दो
जीवन की लीला।"
लालसा की अर्धकृति-सी !

उस प्रत्यावर्तन में प्राण जो न दे सके, हाँ
जीवित स्वयं हैं।
जियें फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में ?
बन्दिनी हुई थी, मैं अबला थी ;

प्राणों का लोभ उन्हें फिर क्यों बचा सका ?
प्रेम कहाँ मेरा था ?
और मुझ में भी कैसे कहूँ शुद्ध प्रेम था।
मानिक कहता है, आह, मुझे मर जाने को।

रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की,
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पाद लेने को।
लोभ मेरा मूर्तिमान् प्रति शोध था बना

और सोचती थी मैं, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुल्तान पदतल में।
कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्णपात्र के ही अभिमान में

एक धूम रेखा मात्र शेष थी;
उस निस्पन्द रङ्गमन्दिर के व्योम में
क्षीण-गन्ध निरवलम्ब।
किन्तु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है।

यह उपहार है, यह शृंगार है
मेरी रूपमाधुरी का।

मणि-नूपुरों की बीन बजी झनकार से
गूँज उठी रङ्गशाला इस सौन्दर्य की।
विश्व था मनाता महोत्सव अभिमान का,
आज विजयी था रूप
और साम्राज्य था नृशंस क्रूरताओं का
रूप-माधुरी की कृपाकोर का निरखता,
जिसमें मदोद्धत कटाक्ष की अरुणिमा
व्यंग करती थी विश्व भर के अनुराग पर।
अवहेलना से अनुग्रह थे बिखरते।
जीवन के स्वप्न सब बनते बिगड़ते थे
भवें बल खातीं जब ;
लोगों की अदृष्ट-लिपि लिखी-पढ़ी जाती थी।
इस मुसकान के पद्मराग-उद्गम से
बहता सुगन्ध की सुधा का सोता मन्द-मन्द
रत्नराजि सींची जाती सुमन मरन्द से
कितनी ही आँखों की प्रसन्न नील तारायें
बनने को मुकुर अचंचल, निस्पन्द थीं।
इन्हीं मीन दृगों का चपल संकेत बन
शासन कुमारिका से हिमालय-शृंग तक
अथक अबाध और तीव्र मेघज्योति सा
चलता था—
हुआ होगा बनना सफल जिसे देख कर
मंजु मीनकेतन अनङ्ग का।
मुकुट पहनते थे सिर, कभी लोटते थे—
रक्तदिग्ध धरणी में रूप की विजय में।
हरमें सुलतान की
देखतीं सशंक दृग कोरों से
निज अपमान को।"
"बेंच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे,
उसी मानवता के आत्मसम्मान को।"

जीवन में आता है परखने का
जिसे कोई एक क्षण,
लोभ, लालसा या भय, क्रोध, प्रतिशोध के
उग्र कोलाहल में,
जिसकी पुकार सुनाई ही नहीं पड़ती।
सोचा यह उस दिन,
जिस दिन अधिकार-लुब्ध उस दास ने
अन्त किया छल से काफ़ूर ने
अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुल्तान का।
आँधी में नृशंसता की रक्त-वर्षा होने लगी,
रूपवाले, शीलवाले प्यार से पले हुए
प्राणी राजवंश के
मारे गये।

वह एक रक्तमयी सन्ध्या थी।
शक्तिशाली होना अहोभाग्य है
और फिर
बाधा विघ्न आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल विरोध करने में कैसा सुख है!—
इसका भी अनुभव हुआ था भली-भाँति मुझे
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।
जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने,
आजीवन दास ने रक्त से रँगे हुए
अपने ही हाथों पहना है राज्य का मुकुट।
अन्त कर दास राजवंश का,
लेकर प्रचंड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने खुसरू के नाम से—
शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प है।
उसी दिन जान सकी अपनी मैं सच्ची स्थिति
मैं हूँ किस तल पर?
सैकड़ों ही वृश्चिकों का डङ्क लगा एक साथ
मैं जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने

खुसरू ने !!
अद्भुत प्रभुत्व का
वात्याचक्र ! उठा प्रतिशोध दावानल में
कह गया अभी अभी नीच परिवारी वह !
"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,
अपना अस्तित्व हैं पुकारते,
नश्वर संसार में
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते।"
"लूटा था इस अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतन्त्र हो बिखरते हैं !
एक मायास्तूप सा
हो रहा है लोप इन आँखों के सामने।
देख कमलावती !
ढुलक रही है हिमबिन्दु सी
सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची सी
छिपकर चारों ओर क्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती संकेत हैं व्यङ्ग्य उपहास में।
ले चली बहाती हुई अंध के अतल में
वेगभरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले काले पङ्ख ढकते हैं अन्ध तम से।
पुण्यज्योति-हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में।

———

आमन्त्रण

कल्पना के कानन की रानी !
आओ आओ मृदु-पद मेरे
मानस की कुसुमित वाणी !

सिहर उठें पल्लव के दल, नव अङ्ग;
बहे सुप्त परिमल की मृदुल तरङ्ग;
जागे जीवन की नव ज्योति अमन्द;
हिले वसन्त-समीर-स्पर्श से
वसन तुम्हारा धानो।

मार्ग मनोहर हो मेरे जीवन का;
खुल जाये पथ रूँधा कण्टक वन का;
धुल जाये मल मेरे तन का, मन का;
देख तुम्हारी मूर्ति मनोहर
रहें ताकते ज्ञानी।

मेरे प्राणों के प्याले को भर दो;
प्रिये, दृगों के मद से मादक कर दो;
मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो;
मुझको एक अमर वर दो;
मैंने जिसकी हठ ठानी।

कृतज्ञता

भावना रँग दी तुमने, प्राण,
छन्द-छन्दों में निज आह्वान।
दिशाओं के सहस्रदश दल
खुल गये नये नये कोमल,
मध्य तुम बैठी चिर-अचपल
बह रहा प्रतिपल सौरभज्ञान।

ओस आँसुओं धुली नवगात,
स्पष्ट नयनों में नूतन प्रात,
भर रहा वात चपल नव बात,
कर रहा पलक-पात कर दान।

बैठ जीवन उपवन में मन्द-
मन्द सिखलाती नव-नव छन्द,
चतुर्दिक् प्रभा, प्रभा, आनन्द
हर रहा जड़ निशि कृश अज्ञान।

साक्षात्कार

प्रात तव द्वार पर,
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।

लगे जो उपल पद हुए उत्पल ज्ञात
कण्टक चुभे जागरण बनें अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्तवर—
प्राप्त तव द्वार पर।

समझ क्या वे सकेंगे भीरु मलिन मन,
निशाचर तेजहत रहे जो वन्य जन,
धन्य जीवन कहाँ,—मातः प्राभात-धन
प्राप्ति को बढ़ें जो गहें तव पद अमर
प्रात तव द्वार पर।

संध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परीसी
धीरे धीरे धीरे,

तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु गम्भीर;—नहीं है उनमें हास-विलास।

हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह काली,
सुखी-नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप चुप चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्वित-सरिता के अतिविस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरङ्गाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में—
क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप चुप चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
और क्या है? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने।
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती वह लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक बिहाग।

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु-नद-तीर-वासी !—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरङ्ग चमूसङ्ग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कमाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में ?—
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार !
सत् श्री अकाल,
भाल अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल—
तीनों गुण तापत्रय,
अभय हो गये थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार !
सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?

मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष-माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है ;—
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार बार—
जागो फिर एक बार !
पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर क्रूर नहीं,
कालचक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर !—समर-सरताज !
पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप ।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ—
"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार !

———

राम की शक्ति-पूजा

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण शर विधृत क्षिप्र कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नीलनभ-गर्जित स्वर,

प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह,—भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन हत-लक्ष्य बाण,
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन महीयान,

राघव-लाघव—रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत लङ्कापति मर्दित-कपि-दल-बल विस्तर,
अनिमेष राम—विश्वजिद्दिव्य शर भङ्ग-भाव,—
विद्धाङ्ग—बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि—खर रुधिर-स्राव,

रावण प्रहार-दुर्वार-विकल-बानर-दल-बल,—
मूर्छित सुग्रीवाङ्गद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित-सौमित्रि-भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,

उद्गीरित-वह्नि-भीम पर्वत-कपि-चतुःप्रहर,—
जानकी-भीरु-उर—आशाभर,—रावण-सम्वर!
लौटे युग दल। राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल,
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।

बानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति चरण-चिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न;
प्रशमित है वातावरण; नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता पल पीछे बानर-वीर सकल;

रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
श्लथ धनु-गुण है, कटि-बन्ध स्रस्त-तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल,
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल

उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।
आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर

सेनापति दलविशेष के, अङ्गद हनूमान,
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर-दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघुकुलमणि श्वेत शिला पर, निर्मल जल

ले आये कर-पद-क्षालनार्थ पटु हनूमान;
अन्य बीर सरके गये तीर सन्ध्या-विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर,
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर;

पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर,
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद पद्म के, महावीर;
यूथपति अन्य जो, यथास्थान, हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम-देश;

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-वार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर-ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण जय-भय;
जो हुआ नहीं आज तक हृदय रिपु दम्य—श्रान्त,—
एक भी, अयुत—लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार;
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी तनया कुमारिका-छवि, अच्युत

देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन
विदेह का - प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन —प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान—पतन,—

काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय,—
गाते खग नव-जीवन परिचय,—तरु मलय वलय,—
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—
जानकी नयन कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भङ्ग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता ध्यान लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय भावना हृदय में आई भर,

वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,—
फड़का पर नभ को उड़े सफल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर,

फिर देखी भीमा मूर्ति आज रणदेवी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझ कर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन;

लख शङ्काकुल हो गये अतुल-बल शेषशयन,—
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन;
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ताफल।

बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द—
युग 'अस्ति नास्ति' के एक-रूप, गुण गण अनिन्द्य;
साधना मध्य भी साम्य—वाम-कर दक्षिण-पद
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद

पा सत्य, सच्चिदानन्दरूप, विश्राम धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम-नाम।
युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने चमके नभ में ज्यों तारादल;—

ये नहीं राम के चरण, बने श्यामा के शुभ—
सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ,
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल,
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल

बैठे वे वहीं कमललोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख, निश्चेतन।
"ये अश्रु राम के" आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल सागर अपार,

हो श्वसित पवन-उनचास, पिता पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,

तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
शत वायु वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव

वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

रावण महिमा श्याम विभावरी-अन्धकार,
यह रुद्र राम-पूजन-प्रताप तेजःप्रसार ;
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
इस ओर रुद्र-बन्धन जो रघुनन्दन-कूजित ;

करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण भर चञ्चल,
श्यामा के पदतल-भारधरण हर मन्द्रस्वर
बोले "सम्बरो देवि निज तेज, नहीं वानर

यह,—नहीं हुआ शृंङ्गार-युग्म गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय-शरीर,
चिर-ब्रह्मचर्य-रत, ये एकादश रुद्र धन्य,
मर्यादा-पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य,

लीला-सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार,
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार ;
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।"

कह हुए मौन शिव; पवनतनय में भर विस्मय
सहसा नभ में अञ्जना रूप का हुआ उदय ;
बोली माता—"तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें, रहे बालक केवल ;

यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह ;
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल—
पूजते जिन्हें श्रीराम, उसे ग्रसने को चल

क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ—सोचो मन में ;
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने ?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य—
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिये धार्य ?"

कपि हुए नम्र, क्षण में माताछबि हुई लीन,
उतरे धीरे धीरे, गह प्रभु-पद हुए दीन ।
राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
"हे सखा," विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन

वह नहीं देख कर जिसे समग्र वीर वानर—
भल्लूक विगत श्रम हो पाते जीवन निर्जर ;
रघुवीर, तीर सब वही तूण में हैं रक्षित ;
है वही वक्ष, रण-कुशल हस्त, बल वही अमित ;

हैं वही सुमित्रानन्दन मेघनाद-जित-रण
हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
तारा-कुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही, एक—अर्बुद-सम, महावीर,

हैं वही दक्ष सेना-नायक, है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर ?
रघुकुलगौरव, लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण !

कितना श्रम हुआ व्यर्थ ! आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय !
रावण, रावण लम्पट, खल, कल्मष गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,

बैठा वैभव में देगा दुख सीता को फिर—
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर ;—
सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित पिक,
मैं बना किन्तु लङ्कापति, धिक् , राघव धिक् धिक् !'

सब सभा रही निस्तब्ध, राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव
उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव ;

ज्यों हों वे शब्द मात्र,—मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति।
कुछ क्षण तक रह कर मौन सहज निज कोमल स्वर
बोले रघुमणि—"मित्रवर, विजय होगी न समर;

यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरी पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण;
अन्याय जिधर है उधर शक्ति!" कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृगजल,

रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण-तेज प्रचण्ड,
धँस गया धरा में कपि गह युग पद मसक दण्ड,
स्थिर जाम्बवान,—समझते हुए ज्यों सकल भाव,
व्याकुल सुग्रीव,—हुआ उर में ज्यों विषम घाव,

निश्चित सा करते हुए विभीषण कार्य-क्रम,
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।
निज सहज रूप में संयत हो जानकीप्राण
बोले—"आया न समझ में यह दैवी विधान;

रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर
यह रहा शक्ति का खेल समर, शङ्कर, शङ्कर!
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,

जो तेजःपुञ्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,

जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत, खण्डित!
देखा, है महाशक्ति रावण को लिये अङ्क,
लाञ्छन को ले जैसे शशाङ्क नभ में अशङ्क;

हत मन्त्रपूत शर संवृत करतीं बार-बार
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार !
विचलित लख कपिदल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों;

पश्चात्, देखने लगी मुझे बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त !"
कह हुए भानुकुलभूषण वहाँ मौन क्षण भर,
बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान—"रघुवर,

विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण
हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम करो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;

रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त;
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्ध हो, रघुनन्दन !

तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक •
मध्य भाग में, अङ्गद दक्षिण—श्वेत सहायक,
मैं भल्ल-सैन्य; हैं वाम पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण—उनके प्रधान;

सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय
आयेंगे रक्षाहेतु जहाँ भी होगा भय।"
खिल गई सभा। "उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ"
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।

हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल—तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर-निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।

बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास स्थित—
"मातः, दशभुजा, विश्व-ज्योतिः, मैं हूँ आश्रित;
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरञ्जन चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्जित !

यह, यह मेरा प्रतीक, मातः समझा इङ्गित;
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।"
कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छबि में निमग्न,
फिर खोले पलक कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;

हैं देख रहे मन्त्री सेनापति वीरासन
बैठे उमड़ते हुए, राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्र-मुख-निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर, स्वर मेघमन्द्र—

"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित-शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द-बिन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;

दशदिक समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मङ्गल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मान का असुर मन्द, हो रहा खर्व।"

फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—
"चाहिये हमें एक सौ आठ, कपि इन्दीवर,
कम से कम, अधिक और हों, अधिक और सुन्दर

जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।"
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु-पद-रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।

राघव ने बिदा किया सब को जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।
निशि हुई विगत : नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा-ज्योति-हिरण;

है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निबिड़-जटा दृढ़ मुकुट-बन्ध;
सुन पड़ता सिंहनाद;—रण-कोलाहल अपार
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;

पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन से गहनतर होने लगा समाराधन

क्रम क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।

चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रतिजप से खिंच खिंच होने लगा महाकर्षण;
सञ्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर ;

दो दिन निस्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करके इन्दीवर, जपते हुए नाम;
आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शङ्कर का स्तर,

हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध;
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता—पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,

द्विप्रहर रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गई पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल;

कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चञ्चल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयनद्वय—

"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !
जानकी ! आह, उद्धार, दुःख जो न हो सका !"
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;

जो नहीं जानता दैन्य नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत गति, हतचेतन
राम में जगी स्मृति—हुए सजग पा भाव प्रमन।

"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन !
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

कहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक,
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गए सुमन।

जिस क्षण बँध गया बेधने को दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय—
"साधु, साधु, साधक धीर, धर्मधन धन्य राम !"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।

देखा राम ने—सामने श्री दुर्गा भास्वर
वाम पद असुर स्कन्ध पर रहा दक्षिण हरि पर;
ज्योतिर्म्मय रूप, हस्त दश विविध-अस्त्र-सज्जित,
मन्दस्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित,

हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रङ्ग-राग,
मस्तक पर शङ्कर। पदपद्मों पर, श्रद्धाभर
श्रीराघव हुत प्रणत मन्दस्वर वन्दन कर।

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।

———

प्रार्थना

जग के ऊर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन;
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन!
छू छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिङ्गन?
बरसो सुख बन सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन!
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

घंटा

नभ की उस नीली चुप्पी पर
घण्टा है एक टँगा सुन्दर,
जो घड़ी घड़ी मन के भीतर
कुछ कहता रहता बज बज कर।
परियों के बच्चों से प्रियतर
फैला कोमल ध्वनियों के पर—
कानों के भीतर उतर-उतर
घोंसला बनाते उसके स्वर।
भरते वे मन में मधुर रोर
जागो रे जागो, कामचोर!

डूबे प्रकाश में दिशा-छोर
अब हुआ भोर, अब हुआ भोर!
'आई सोने की नई प्रात
कुछ नया काम हो, नई बात,
तुम रहो स्वच्छ मन, स्वच्छ गात,
निद्रा छोड़ो रे गई रात।'

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना, रङ्गिणी!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ कहाँ हे बाल विहङ्गिनी!
पाया तू ने यह गाना?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना;

शशि-किरणों से उतर उतर कर
भूपर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में
तम ने था मण्डप ताना;

कूक उठी सहसा तरुवासिनि!
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि!
बतलाया उसका आना?

निकल सृष्टि के अन्धगर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक टोना-माना;

छिपा रही थी मुख शशिबाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड में बन्दी था अलि
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना,

तू ने ही पहले बहुदर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना-बाना!

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना!

खुले पलक, फैली सुवर्ण छबि,
जगी सुरभि डोले मधु-बाल,
स्पन्दन कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि
तू ने कैसे पहचाना
कहाँ कहाँ है बालविहङ्गिनि।
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

मुसकान

कहेंगे क्या मुझ से सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि हाय !
नहीं रुकती है यह मुसकान।
विपिन में पावस के से दीप
सुकोमल सहसा सौ सौ भाव,
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान !
तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव,
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण
नहीं रुकती तब यह मुसकान !
कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार;
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

उर की डाली

देखूँ सबके उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छबि-उपवन से अकूल
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !

किस छबि, किस मधु के मधुर भाव ?
कि रँग, रस रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव ?
किसने ली पिक की विरह तान ?
किसने मधुकर का मिलन-गान ?
या फुल्ल कुसुम, या मुकुल म्लान ?

देखूँ सबके उर की डाली
सब में कुछ सुख के तरुण फूल
सब में कुछ दुख के करुण शूल,—
सुख-दुःख न कोई सका भूल !

पर्वत-प्रदेश में पावस

पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल !
गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झागभरे निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर।

—उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव-शेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

धँस गये धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुआँ जल गया ताल!
—यों जलद यान में विचर विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल!

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

कलरव

बासों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुरमुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी - वी - टी - टुट् टुट्।

वे ढाल ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहो मधुर सपने
श्रम जर्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेह - वेदना - सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवो धर डगमग डग,

भारी है जीवन ! भारी पग !!
आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गन्ध-पवन भल मन्द व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,

ढीली हैं जिनकी रग-रग !
यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला !

× × × ×

गा सके खगों सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छवि !
गा सके खगों सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात फिर आवे रवि !

भारतमाता

भारतमाता
ग्रामवासिनी !

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गङ्गा जमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा

उदासिनी ।

दैन्य-जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में

प्रवासिनी ।
तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध-क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नतमस्तक
तरुतल-निवासिनी ।
स्वर्ण शस्य-पर-पद-तल-लुण्ठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुण्ठित,
क्रन्दन-कम्पित अधर मौन स्मित,
राहुग्रसित
शरदिन्दु-हासिनी ।
चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिराङ्कित
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन-श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञानमूढ़
गीता-प्रकाशिनी ।
सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तन भ्रम,
जगजननी
जीवन-विकासिनी ।

बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त हीन,
हे अस्थिशेष! तुम अस्थि हीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन!
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन;
आधार अमर होगी जिस पर
भावो की संस्कृति समासीन!

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि—
निर्मित जिन से नव युग का तन,
तुम धन्य! तुम्हारा निःस्व त्याग
है विश्व भोग का वर साधन।

इस भस्मकाम तन की रज से
जग पूर्णकाम नव जग जीवन
बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन!

सदियों का दैन्य तमिस्र तूम,
धुन तुमने, कात प्रकाश सूत,
हे नग्न! नग्न पशुता ढँक दी,
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत।

जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से हे अछूत!
तुमने पावन कर मुक्त किये
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत!

सुख भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के मन के मनोज!

जड़ता हिंसा स्पर्धा में भर
चेतना अहिंसा नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज!

साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
मानवता पशु-बलाक्रांत,
शृंखला दासता प्रहरी बहु
निर्मम शासन पदशक्ति भ्रांत;

कारागृह में दे, दिव्य जन्म
मानव आत्म को मुक्त, कांत,
जन शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत शांत!

सन्ध्या तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजङ्ग सा जिह्म क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार।
अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन,
गङ्गा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर, पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग, उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड़ में रे किस मग!
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अञ्चल, नव नील नील कोमल कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल।
पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल अमन्द नक्षत्र एक!
अकलुष अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप।
क्या उसकी आत्मा का चिर धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिंतन,
क्या खोज रहा वह अपनापन,
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग !
मानता नहीं बन्धन विवेक !
चिर आकांक्षा से ही थर् थर् उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर
अविरत इच्छा ही में नर्तन, करते अबाध रवि, शशि उडुगण,
दुस्तर, आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !
एकाकीपन का अन्धकार दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार !

× × ×

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द बन्ध !
वह रे अनन्त का मुक्त मीन अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन।
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम !

× × ×

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा भार !
जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से वन
वह आत्म और यह जग दर्शन।

———

नौका-विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त नीरव भूतल !
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वङ्गी गङ्गा, ग्रीष्म विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस बाला गङ्गा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।
चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर;
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें बँधी, खुला लंगर।
मृदु मंद मंद मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पार।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन।
नौका से उठतीं जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल,
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल,
जिनके लघु दीपों को चञ्चल, अंचल की ओट किये अविरल,
फिरती लहरें लुक छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छबि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख,
दिखलाता मुग्धा सा रुक रुक।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।
अतिदूर, क्षितिज पर विटप-माल, लगती भ्रू रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल;
मा के उर पर शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक।
पतवार घुमा; अब प्रतनु भार।
नौका घूमी विपरीत धार।
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार।
चाँदी के साँपों सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं सी खिंच तरल सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल,
फैले फूले जल में फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सहोत्साह।
ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग जीवन के कर्णधार ? चिर जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन - नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।

———

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो ?
रजत-शङ्ख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गये आरती-वेला को शत शत लय से भर,

जब था कलकण्ठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,

इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो।
चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अङ्क लिये चन्दन की दहली,

झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित,

सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो!
पल के मनके फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रति ध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया,

साँसों की समाधि-सा जीवन,
मसि-सागर-सा पन्थ गया बन,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन,

इस ज्वाला में प्राण रूप फिर से ढलने दो!
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,

जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक वह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल

दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो!

—:०:—

निःश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है, 'कितना अस्थिर है संसार !'
हँस देता जब प्रात सुनहरे
अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार !'
देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल ?'
अब इनमें क्या सार, मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार !'
स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक बार,
हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार !'
स्वप्न-लोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,
आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदुल झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार !'

———

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली;
शशि को छूने मचली सी लहरों का कर कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का तटिनी करती आलिङ्गन!

अपनी जब करुण कहानी कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब सूखा अवनी का अञ्चल;
पल्लव के डाल हिंडोले सौरभ सोता कलियों में,
छिप छिप किरणें आतीं जब मधु से सींची गलियों में!

आँखों में रात बिता जब विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने प्राची में प्रात चितेरा;
कन-कन में जब छाई थी वह नव यौवन की लाली,
मैं निर्धन तब आई ले सपनों से भर कर डाली!

जिन चरणों की नखज्योति ने हीरक-जाल लजाये,
उस पर मैंने धुँधले से आँसू दो चार चढ़ाये!
इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का!

उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते?
आँखों के कोष हुए हैं मोती बरसा कर रीते!
अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली!

मेरी आहें सोती हैं इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है इन दीवानी चोटों में!!
चिन्ता क्या है हे निर्मम! बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा!

पन्थ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे,

दुःखव्रती निर्माण उन्माद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अङ्क-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-वेला !
दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिसके मिटे स्वर धूलि में खोई निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला !
हास का मधु-दूत भेजो,
रोष की भ्रू-भङ्गिमा पतझार को चाहे सहेजो,
ले मिलेगा उर अचञ्चल
वेदना-जल स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी विरह में है दुकेला !

सब आँखों के आँसू उजले सब के सपनों में सत्य पला !
जिसने उसको ज्वाला सौंपी
उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुलघुल
देता झर यह सौरभ बिखरा
दोनों संगी पथ एक किन्तु कब दीप खिला कब फूल जला !
वह अचल धरा को भेंट रहा
शत शत निर्झर में हो चञ्चल,
चिर परिधि बना भू को घेरे
इसका नित उर्मिल करुणा-जल !
कब सागर-उर पाषाण हुआ कब गिरि ने निर्मम तन बदला ?
नभ तारक सा खण्डित पुलकित
यह क्षुर-धारा को चूम रहा
वह अङ्गारा का मधु-रस पी
केशर किरणों सा झूम रहा !
अनमोल बना रहने को कब टूटा कञ्चन हीरक पिघला ?

नीलम मरकत के सम्पुट दो
जिनमें बनता जीवन-मोती,
इसमें ढलते सब रंग रूप
उसकी आभा स्पन्दन होती!
जो नभ में विद्युत-मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला!

संसृति के प्रति पग में मेरी
साँसों का नव अंकन चुन लो,
मेरे बनने मिटने में नित
अपनी साधों के क्षण गिन लो!

जलते खिलते बढ़ते जग में घुलमिल एकाकी प्राण चला!
सपने सपने में सत्य ढला?

तू धूलभरा ही आया!
ओ चञ्चल जीवन-बाल! मृत्यु-जननी ने अंक लगाया?
साधों ने पथ के कण मदिरा से सींचे,
झंझा आँधी ने फिर फिर आ दृग सींचे,

आलोक-तिमिर ने क्षण का कुहक बिछाया!
अङ्गार-खिलौनों का था मन अनुरागी,
पर रोमों में हिम जड़ित अवशता जागी,
शत शत प्यासों की चली लुभाती छाया!

गाढ़े विषाद ने अंग कर दिये पंकिल,
बिंध गये पदों में शूल व्यथा के दुर्मिल,
कर क्षार साँस ने उर का उड़ाया!
पाथेयहीन जब छोड़ गये सब सपने,
आख्यानशेष रह गये अंक ही अपने,
तब उस अञ्चल ने दे संकेत बुलाया?

रसायन

जिस दिन लौटा तू चकित थकित सा उन्मन,
करुणा से उसके भर भर आये लोचन,
चितवन - छाया में दृग - जल से नहलाया!

पलकों पर धर धर अगणित शीतल चुम्बन,
अपनी साँसों से पोंछ वेदना के क्षण,
हिम - स्निग्ध करों से बेसुध प्राण सुलाया!

नूतन प्रभात में अक्षयगति का वर दे,
तन सजल घटा सा तड़ित-छटा सा उर दे,
हँस तुझे खेलने जग में फिर पहुँचाया!

तू धूल भरा जब आया
ओ चञ्चल जीवन-बाल! मृत्यु-जननी ने अंक लगाया!